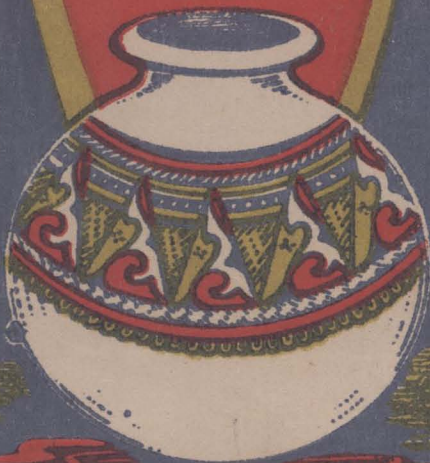


પાણી

ઘટ

“વિજય મુનિ”



શ્રી સત્માર્તિ જ્ઞાન પીઠ, આગરા

सन्मति साहित्य रत्न माला के  
अन्तर्गत लोकोदय ग्रंथ माला

का  
ॐ  
प्र प्र  
थ थ  
म म  
ग्रं र  
थ तन  
ॐ

# पीयूष घट

लेखन :  
विजय मुनि शास्त्री



श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

प्रकाशक :

सन्मति ज्ञान पीठ  
लोहामण्डी, आगरा

संस्करण : तृतीय

मूल्य : ५-५०

मुद्रक :

नवीन प्रिन्टर्स  
प्रकाश कम्पोजिंग हाउस आगरा-२

# कहानी की कहानी !



कला के क्षेत्र में, कहानी से  
बढ़ कर अभिव्यक्ति का  
शायद ही कोई सुन्दर साधन  
हो । कहानी कला, अपने  
आप में इतनी परिपूर्ण एवं

आकर्षक है कि सब का  
मन मोह लेती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है—घर की बूढ़ी दादी और  
नानियाँ ! जब वे अपनी प्यार भरी गोद में कुसुम-कोमल मन वाले  
नन्हे लुट्टों को लेकर, दुलार करती हुई उनसे कहती हैं—‘आओ  
लल्लू कहानी सुनो !’ तब बालक खेल छोड़ देते हैं, मिठाई छोड़ देते हैं  
और—नींद के झटके उनसे कोसों दूर भाग जाते हैं ! क्योंकि कहानी,  
उनके मानस को इतना कस कर पकड़ती है कि वे अपनी प्रिय  
से प्रिय वस्तु को भी भुला देते हैं ! दस काम नानी के कहने पर  
वे बेमन के भी करने को तैयार हो जाते हैं ।

बालकों में कहानी के प्रति आकर्षण होता है इसका अर्थ तो यह हुआ कि वह बच्चों के ही मतलब की चीज है—ऐसी बात नहीं। बच्चों की स्वच्छ कोमल भावना का कथा गत पात्रों से तादात्म्य भाव, शीघ्र हो जाता है। वे अपना अस्तित्व भुलाकर कथा मय या पात्र मय हो जाते हैं। अतः कहानी का उल्लेख करते समय कहानी के प्रति उनकी रुचि का उल्लेख करना आवश्यक है। बादल जब उमड़ घुमड़ कर आते हैं तो वसुन्धरा की गोद हरी तिमि से भर जाते हैं और जब भावों के मेघ उमड़ घुमड़ कर आते हैं तो कहानी-कला के अनूठे शिल्प द्वारा हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने वाले चित्रों में प्राणों का संचार कर जाते हैं।

मानव में संवेदनशीलता शाश्वत भाव है। वह जब कहानी पढ़ता या सुनता है तो कथागत पात्र के सुख-दुःख में अपने आपको साक्षीदार समझने लगता है। अतः कहानी गत पात्रों के घात प्रतिघातों से पाठक का दिली लगाव हो जाता है—अज्ञात भावेन ही। वह अनुभव करने लगता है कि यह सुख-दुःख मुझे ही हो रहा है। मनुष्य ऐसा अनुभव इसीलिए करता है, कि मानव वेदना की सनातन अभिव्यक्ति कहानों के कण-कण में रमी रहती है।

वैसे बड़े-बड़े मत प्रवर्तकों ने भी कहानी, रूपक, दृष्टान्त एवं उदाहरणों द्वारा धार्मिक भावनाओं का जन मानस पर स्थायी प्रभाव डाला है, बहुत सम्भव है कि दर्शन शास्त्र की शुष्क बातों से वह न पड़ा हो। बौद्ध साहित्य की “जातक” कथाओं की ६ जिल्दों में बुद्ध के पूर्व भवों की झांकी है। इसी प्रकार वैदिक

साहित्य और जैन साहित्य में भी पर्याप्त कथाएँ हैं। जैन साहित्योदधि से एक नहीं अनेकों घट भर कर रखे जा सकते हैं। परन्तु सम्प्रति यह छोटा घट ही प्रस्तुत है।

‘कहानी की कहानी’ कहते हुए यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि टीकाओं, चूर्णियों, भाष्यों, नियुक्तियों एवं आगम उदधि से एक-एक बूँद लेकर यह ‘पीयूष घट’ भरा है। यह घट कितनी शीघ्रता में भर गया ! यह मत पूछिये ! मेरे परम स्नेही मुनि कन्हैयालाल जी ‘कमल’ ने मुझे बार-बार उकसा-उकसा कर, प्रोत्साहित कर-कर—कहानियाँ लिखने को वाद्य किया था। उन्होंने कहानियाँ लिखवाना प्रारम्भ करवाई और फिर इन्हें सराही भी खूब ही। मैं समझता रहा, कहानी लिखवाने के लिए ही मुझे और मेरी कहानियों को सराह रहे हैं। परन्तु जब आगम साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान पं० श्री बेचरदास जी दोशी एवं दार्शनिक, विद्वान पं० श्री दलसुख भाई मालवाड़िया तथा ‘जैन दर्शन’ जैसे ठोस ग्रन्थ के अकेले एक लेखक डा० श्री मोहनलालजी मेहता, इन्द्र प्रस्थीय डा० इन्द्रचन्द्र जी पी० एच० डी० ने व विश्व धर्म और विश्व मानव के अमर गायक और प्रेरक मुनि श्री सुशील कुमार जी आदि विद्वानों ने इन कहानियों को पसन्द किया और अधिकाधिक लिखने के लिए उत्प्रेरित किया तो मैं समझा, कहानियाँ कुछ काम की ही साबित होंगी। जब मुझे कहानी और रूपक भी लिखने में रस आया तो वे दिन याद हैं—भूख प्यास सब भाग गई थी, आठ-आठ घन्टे जम कर बैठता था तब लेखनी निरन्तर आगे-ही-आगे चलती रहती थी—कागज के चिथड़ों पर सर पट !

कहानी लिखने में जब-जब मेरी गति धोमी पड़ी तब-तब मुनि मधुकर जी की मधुर प्रेरणा तथा मेरे अभिन्न हृदय

पं० श्री मल्ल जी की बलबान् प्रेरणा मेरे हाथों की गति को बढ़ा दिया करती थीं। इन्हीं साथियों की यह पावन प्रेरणा का मधुर परिणाम 'पीयूष घट' हैं। ३०० कहानियाँ लिखवा लेना इन्हीं स्नेहियों का काम है। अन्यथा मुझ जैसा अलस व्यक्ति क्या लिखता ! इन साथियों में काम करने की आग है ! इन की आत्मा की जड़े निष्ठा के पानी से सिंचित हैं। यही कारण है कि उत्साह की खाद दे-देकर मुझ से इन्होंने ये कहानियाँ लिखवा ली !

'कहानी की कहानी' का यह पूर्वाधि हुआ उत्तरार्ध यों है—  
ये कहानियाँ कहानी कला की दृष्टि से पूर्ण है या नहीं इसका दावा मैं तो कैसे कर सकता हूँ लेकिन धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति साहित्य और समाज—विषय के पाठक इस से रस ग्रहण कर सकेंगे—ऐसा मैं विश्वास लेकर चल रहा हूँ। भारतीय संस्कृति के संगीत के स्वरों को इन कहानी में रहे तथ्यों से गति मिलेगी, लय मिलेगी, ताल मिलेगी और मिलेगा वह सब कुछ जो आज के शस्त्रात्मक संहार युग से ऊबे मानव में एक खास तरह की दिलीतमन्ना अन्दर-ही-अन्दर फड़-फड़ा रही है—उसे राहत ! एक बात और जिसके विषय में मौन रहना Sin of omission होगा। मनुष्य का Sin of comission से बचना सरल है, परन्तु Sin of omission से बचना दुष्कर है। 'पीयूष-घट' की सजावट, जगमगाहट और साज-सज्जा श्रीसुबोध मुनि जी की है। वे प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादक हैं। सम्पादन सुन्दर एवं सजीव है ! वह मुझे भाया ! उसने मेरा मन मोहा !! आँखें ठहरा लीं !! और दिल जीत लिया !!! पाठकों को भी वह पसन्द आएगा ही। इसी विश्वास के साथ विराम !

माता रुक्मणी भवन,  
जैन स्थानक, कानपुर.

२०—६—६० ई०

—विजय मुनि

## विषय-सूची

क्रम संख्या	पृष्ठ संख्या
१. भूला राही राह पर	३
२. नारी नर से आगे	६
३. उसने वात्सल्य को जन-जन में खोजा	८
४. बुद्धि का कौशल	११
५. नारी की अभिलाषा	१३
६. सुभद्रा जीत गई	१५
७. वात्सल्य दूध बनकर स्तन से फूट पड़ा	१७
८. सुलसा की धर्म परीक्षा	२०
९. जीवन के उत्थान-पतन की कहानी	२१
१०. आर्या चन्दना का उपालम्भ	२४
११. विश्वास बदला तो विश्व बदला	२५
१२. माता की ममता जीत गई	३०
१३. जवानी का तूफान	३५
१४. कोणिक और चेटक का युद्ध	३६
१५. चक्रवर्ती बनने की लालसा	४१
१६. आसक्ति का जाल	४३
१७. देव हारा, मानव जीता	४६
१८. विष हारा अमृत जीता	४८
१९. शत्रु के लिए शस्त्र	५०
२०. पश्चात्ताप की आग	५३
२१. सत्य असीम है	५५
२२. जो आज पाया था	५८
२३. सेवा का आदर्श	६१
२४. धनी बनो, धन-लोभी नहीं	६२
२५. अमात्य की बात	६६
२६. मंथन का मोती	६८
२७. निन्दिया जागी निन्दिया लागी	७३
२८. सुबह का भूला घर न लौटा	७६
२९. उसकी नाव तिर रही थी	८३
३०. क्षमापना का आदर्श	८६
३१. काम विजेता स्थूल भद्र	९३
३२. अर्जुन की क्षमा साधना	९७



३३.	ज्योतिर्धर जीवन	१०१
३४.	अपने बल पर अपना निर्माण	१०४
३५.	क्रोध पर क्षमा के गीत	१०६
३६.	कटु है यह संसार	११३
३७.	सच्चा त्यागी कौन	११७
३८.	आत्मा का अपूर्व धन	११६
३९.	भोग से योग की ओर	१२२
४०.	कपिल का अन्तर्द्वन्द	१२५
४१.	प्रकाश से अंधकार में	१२८
४२.	आर्द्रक कुमार	१३१
४३.	अमात्य तेतलि पुत्र	१३४
४४.	रोहिणोय चोर	१३७
४५.	विजय चोर	१४०
४६.	आचार्य आपाठी के शिष्य	१४५
४७.	क्षणिकवादी अश्वमित्र	१४८
४८.	त्रैराशित रोहगुप्त	१५०
४९.	फाल्गुरक्षित का दुराग्रह	१५३
५०.	तिष्यगुप्त की भ्रान्ति	१५४
५१.	आर्य गंगदेव का भ्रम	१५७
५२.	मृगा पुत्र	१५९
५३.	उज्जित कुमार	१६२
५४.	अभग्न सेन चोर	१६५
५५.	शकट कुमार	१६७
५६.	बृहस्पति दत्त	१७९
५७.	नन्दी वर्धन	१७१
५८.	उम्बर दत्त	१७३
५९.	सौर्य दत्त	१७५
६०.	देवदत्ता	१७७
६१.	अंजु कुमारी	१७९
६२.	आलोचक	१८१
६३.	बुद्धिर्यस्य बलं तस्य	१८४
६४.	बकरे का सुख	१८६
६५.	जीवन जीने की कला	१८८
६६.	साहसे लक्ष्मीर्वसति	१९०

# नारी का मन



## भूला राही राह पर !

यादव जाति के तरुण सुरा और सुन्दरी में आकण्ठ डूब गये थे - अपना मान भूल गए थे । मांस को उन्होंने विशिष्ट भोजन मान लिया था । राजकुमार नेमि का विवाह था । बारात के स्वागत में मांस भोजन का आयोजन था । मृग शशे, कुकुट्ट आदि असहाय पशुओं की चीत्कारों ने नेमि के हृदय में करुणा का तीव्र आन्दोलन उत्पन्न कर दिया । राजकुमार नेमि ने दया द्रवित हो राजकुमारी राजमती का परित्याग कर अपने जाति बन्धुओं के समक्ष एक महान् आदर्श उपस्थित किया ।

नेमि के प्रव्रजित हो जाने पर रथनेमि ने राजमती से विवाह करने की इच्छा अभिव्यक्त की थी । राजमती ने सोचा ! एक को हृदय समर्पित कर चुकी । अब दूसरी जगह कैसे दिया जा सकता है ? हृदय तो एक ही है और वह मैंने नेमि को दे दिया राजुल बुद्धिमती थी । रथनेमि का वासना वेग शान्त करने का एक उपाय खोज निकाला । एक दिन उसने विभिन्न प्रकार के खाद्यान्न खाए, और नाना प्रकार के पेय पदार्थ पिए । रथनेमि के आगमन के साथ ही मदन फल खाकर उसने वमन कर दिया । रथनेमि इस नाटक को समझ नहीं सका । राजमती ने वान्त पात्र को रथनेमि के समक्ष रखकर विनीत भाव से कहा :  
“लीजीए, पान कीजिए, इसका !”

४ : पीयूष घट

“क्या यह पीने के योग्य है ?” नाक सिकोड़कर तिरस्कार की भाषा में रथनेमि ने राजमती से कहा !

“क्यों, क्यों नहीं। जबकि आप, अपने लघु भ्राता नेमिनाथ के द्वारा परित्यक्त राजकुमारों को परिगृहीता करना चाहते हैं ! तो यह वान्त पात्र का पदार्थ पान नहीं है ?”

रथनेमि की विचार-धारा बदली, वह आभ्यन्तर निन्द्रा से जागृत हुआ और आत्म-साधक श्रमण बन गया। नेमि के बिना राजुल की दुनिया सुनी थी ! वह भी परिव्राजिका होकर अपने मनोनीति आराध्य के पथ पर चल पड़ी। मन को मोड़ने की देर है, जीवन की दिशा बदलने में फिर विलम्ब ही क्या ?

वर्षा की सुहावनी वेला थी। राजुल, भगवान् नेमिनाथ के दर्शन कर गिरनार से नीचे उतर रही थी। उतरते वर्षा हुई ! वर्षा में भीगे वस्त्रों को सुखाने के लिए उसने एक समीपस्थ गुफा में प्रवेश किया। वस्त्रों को इधर-उधर फैला दिया। निर्जन एकान्त स्थान जानकर, निर्वस्त्रा होकर वह वहाँ बैठ गई।

परन्तु उसी गुफा में श्रमण रथनेमि भी ध्यान मुद्रा में खड़ा था। राजुल को देखकर उसकी प्रसुप्त वासना जागृत हो गई। हृदय मंथन चला, पर मन थक गया था। वह हारा मन शीतल छाया में सुख खोज रहा था। नारी के रूप से योगी का योग हार चुका था। वह राजुल से भोग की भाषा में बोला :

“उठो, राजुल ! तुम्हारा यह सौकुमार्य योग के लिए नहीं, भोग के लिए है। आओ चलो, संसार में चलें। संसार कितना मधुर है ? ओफ... !!! और यह दम तोड़ देने वाली योग साधना कितनी कठोर है ?”

राजमती का सतीत्व सजग और सतेज होकर बोल उठा :

“धीरत्थु ! ते जसो कामी,

जो तं जोविय कारणा ?”

“रथनेमि तुम्हें धिक्कार है ! श्रेयस का परित्याग करके तुम प्रेयस को अंगीकार करना चाहते हो । इस अपयश से तो तुम्हारा मरण ही अधिक श्रेष्ठ है । जरा सोचो, समझो, तुम कौन हो ? और मैं कौन हूँ ? तुम समुद्र विजय के पुत्र हो, और मैं उग्रसेन की कन्या हूँ । नेमि, वासना की दृष्टि आत्म-हनन की दृष्टि है । यह तुम्हें पद-पद पर तृण की तरह अस्थिर कर देगी ।”

राजमती के सुभाषित अंकुश से काम-मत्त गजेन्द्र रथनेमि सन्मार्ग पर आ गया । रथनेमि का वासना वेग शान्त रस में परिणत हो गया । भूला राही फिर राह पर चल पड़ा ।

—दशवै० २, गा० ६, टीका / ●

## नारी नर से आगे !

विदेह देश की राजधानी मिथिला नगरी में, कुम्भराज राज्य करता था। प्रभावती उसकी रानी थी। मल्लदिन राजकुमार था, और मल्ली राजकुमारी थी। राजकुमारी मल्ली का रूप, लावण्य और सौन्दर्य अद्भुत था। देव उसके रूप से ईर्ष्या करते थे। राजकुमारी ने अपने सुन्दर संस्कारों के कारण आजीवन कौमार्य व्रत का संकल्प कर लिया था। ब्रह्मचर्य की साधना में वह सदा सजग रहती थी।

उस समय कोशल के प्रतिबुद्ध राजा ने, अंग के चन्द्रछाय राजा ने, काशी के शंख राजा ने, कुणाल के रूपी राजा ने, कुरु के अदीन शत्रु राजा ने और पंचाल के जितशत्रु राजा ने राजकुमारी मल्ली के रूप, लावण्य और सौन्दर्य की कथा सुनी तो वे उसे प्राप्त करने के लिए विकल हो उठे। सब ने अपना-अपना सन्देश राजा कुम्भ के पास भेजा। राजा कुम्भ ने सबको इन्कार कर दिया, क्योंकि राजा को यह विश्वास था कि मल्ली विवाह करने को तैयार नहीं है।

स्वार्थान्ध पुरुष नारी के भावों का मूल्यांकन नहीं कर सकता। वह तो न्याय और अन्याय से अपना स्वार्थ साधना ही चाहता है। राजाओं ने रूप सुन्दरी मल्ली को प्राप्त करने के लिए कुम्भ पर आक्रमण कर दिया। कुम्भ में इतनी शक्ति नहीं थी, कि वह सबसे टक्कर ले सके। युद्ध हुआ, राजा कुम्भ

के जीतने की कोई आशा ही नहीं थी, वह पराजित हुआ । सौन्दर्य, दृष्टा को सुख देता है । पर पुष्प को कोई मसलने लगे तो.....?

राजकुमारी बुद्धिमती थी । उसने स्थिति को समझा और उलझन को सुलझाने का प्रयत्न करने का संकल्प किया । मल्ली ने अपने महल में अपनी एक सुवर्ण की मूर्ति बनवाई और उसे सुगन्धित खाद्य द्रव्यों से भरकर आवृत्त कर दी । छहों राजाओं को महल में आने का निमन्त्रण दे दिया । मल्ली की मूर्ति इतनी सुन्दर थी, कि राजाओं ने देखकर उसे ही मल्ली समझा । मूर्ति का अनावरण किया तो उसमें से तीव्र दुर्गन्ध उछली, वह सभी राजाओं को असह्य हो गई ।

राजकुमारी ने अवसर को पहचानकर विनम्र शब्दों में राजाओं से कहा । "इस मूर्ति को देखकर आप मुग्ध हो गये थे । परन्तु मूर्ति में से जो दुर्गन्ध निकल रही है, उससे घबराते हो बन्धुओं, मेरे इस शरीर की—जिस पर आज आप सब अत्यन्त मुग्ध हो, युद्ध करने को भी तैयार होकर आए हो—यही स्थिति है । जरा ज्ञान नेत्रों से देखो । इस चर्मावृत्त शरीर में रुधिर, मांस, मज्जा और अस्थि के सिवा और है ही क्या ? मल, मूत्र, और श्लेष्म की दुर्गन्ध इससे भी भरी हुई है । फिर इस पर इतनी आसक्ति ?"

शक्ति से जो कार्य नहीं होता, वह बुद्धि से सहज ही हो जाता है । सब राजाओं ने कुम्भ से अपने अपराधों की क्षमा माँगी और बड़े स्नेह से सब अपने-अपने देश को विदा हो गए ।



८ : पीयूष घट

कालान्तर में राजकुमारी मल्ली प्रव्रजित हो गई, तो राजाओं ने भी दीक्षा अंगीकार करके मल्ली के पथ का ही अनुगमन किया। मल्ली नारी थी, परन्तु उसने मनुष्य समाज के समुत्कर्ष के लिए जो किया, वह आज भी पवित्र और स्मरणीय है। और अन्त में वह अपनी साधना से तीर्थङ्कर बनी।

—ज्ञाता० अ० ६/●

## उसने वात्सल्य को जन-जन में खोजा !

माता का पुत्र पर सहज स्नेह होता है। वह स्वयं क्लेश उठा सकती है, परन्तु पुत्र को सुख देने के लिए वह प्रत्येक प्रयत्न करने को तैयार है। पुत्र का अमंगल माता सह नहीं सकती।

राजगृह में राजा श्रेणिक राज्य करता था। रानी काली, सुन्दरी, रूपवती और वृद्धिमती थी। श्रेणिक को वह रानी सर्व प्रकार से प्रिया थी, इष्टा और वल्लभा थी। कालीकुमार इसी का पुत्र था, जो सुन्दर और सुकोमल था। काली रानी को वह प्राणों से भी अधिक प्रिय था।

राजा श्रेणिक के बाद कोणिक ने अपनी राजधानी चम्पा को बनाया था रानी काली और कालीकुमार भी चम्पा नगरी में रहने लगे। मगध और अंग दोनों पर श्रेणिक का राज्य था। श्रेणिक ने अपने जीवन काल में ही मगध और अंग के ग्यारह

विभाग कर दिए थे, जिससे पुत्रों में किसी प्रकार का संघर्ष न हो।

उस युग में समय और अंग दोनों विशाल देश थे। मगध की राजधानी राजगृही थी और अंग की राजधानी चम्पा नगरी थी। कोणिक ने राजगृही को छोड़कर चम्पा को अपनी राजधानी बनायी थी। कोणिक और कालीकुमार में अत्यन्त स्नेह और सद्भाव रहता था।

त्रिहल्लकुमार और वेहासकुमार कोणिक के सहोदर भाई थे। राजा श्रेणिक ने विहल्लकुमार को सिंचानक गन्ध हस्ती और वंक हार दिया था। वह अपना हार पहन कर हाथी पर सवार हो, रोज बाजार में से निकलता। एक बार कोणिक की रानी पदमावती को विहल्लकुमार की इस शान शौकत ने ईर्ष्या दग्ध कर दिया। रानी ने कोणिक को हार-हाथी छीन लेने के लिए बाध्य कर दिया। विहल्लकुमार अपनी रक्षा के लिए अपने नाना चेटक के पास पहुँच गया। वह विशाला नगरी का अधिपति था। चेटक ने विहल्लकुमार एवं हार और हाथी की रक्षा का दृढ़ संकल्प कर लिया था। कोणिक और चेटक में भयंकर युद्ध हुआ। इस भीषण एवं दारुण युद्ध में कालीकुमार कोणिक की ओर से युद्ध में गया था। संसार का इतिहास कहता है—युद्ध के तीन कारण हैं—“धन, राज्य और नारी।” स्वार्थ ने भाई-भाई में भेद की दीवार खड़ी कर दी।

एक बार भगवान् महावीर चम्पा नगरी पधारे। नगर के बाहर उपवन में परिषदा लगी। रानी काली, भगवान् के दर्शन और वन्दन को आई। परिषदा के लौट जाने पर काली रानी ने वन्दना करके भगवान् से पूछा :

१० : पीयूष घट

“भंते, क्या मैं अपने कालीकुमार को देख सकूँगी? वह अब कहाँ पर है?” काली ने जिज्ञासा भरी दृष्टि से भगवान की ओर देखा।

भगवान् ने यथार्थवाद उसके सामने रखा : “काली, अब तू कालीकुमार को नहीं देख सकेगी। वह युद्ध में राजा चेटक के तीव्र प्रहार से मर गया है, और अब पंक प्रभा में नारक बन चुका है।”

काली रानी का संसार कालीकुमार के बिना सूना हो चुका था। राजमहल में अब उसका मन नहीं लगता। सब राग-रंग फीके लगने लगे। काली के मन ने मोड़ लिया : “जिस संसार में मेरा पुत्र नहीं रहा, वहाँ मैं भी न रहूँगी।” कोणिक से अनुमति लेकर वह श्रमणी बन गई।

चन्दन वाला की सेवा में रहकर काली ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। संयम और कठोर तप की साधना से अपने जीवन को साध लिया। काली रानी जितनी कोमल थी, साधना में उतनी कठोर भी रही। नारी में आसक्ति भी अत्यन्त है, और त्याग भी अद्भुत तथा अनुपम है। काली ने गुरणी की आज्ञा से रत्नावली तप की एकाग्रता से साधना की और अन्त में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गयी।

—निरयावलिया अ० १, अन्त कृ० वर्ग ८, स० १/●

## बुद्धि का कौशल !

धन होने पर भी यदि बुद्धि नहीं है, तो जीवन सुखी नहीं रह सकता। जीवन के हर क्षेत्र में बुद्धि की आवश्यकता है। बिना बुद्धि के जीवन सूना-सूना रहता है।

राजगृह नगर में एक बुद्धिमान धन्य सार्थवाह रहता था। उसकी पत्नी का नाम था, भद्रा। सार्थवाह के चार पुत्र थे— धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित। उन चारों पुत्रों के क्रमशः चार पत्नियाँ थीं। उज्जिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी। चारों पुत्र और उनकी चारों पत्नियाँ अपने-अपने कार्य में दक्ष थीं। धन्य और भद्रा सुखी थे।

एक दिन धन्य सार्थवाह ने सोचा : “मैं अब तो वृद्धत्व की ओर अग्रसर हूँ। जीवन का पता ही क्या? यह दीपक कब बुझ जाय, कौन जाने। कार्यवशात् कभी घर से बाहर भी जाना पड़ जाय! अभी तो भद्रा भी है, चिन्ता जैसी स्थिति भी नहीं है। परन्तु हमारे बाद क्या होगा? पुरुष का क्षेत्र घर के बाहर का है। घर का कार्य तो नारी के हाथों में सुरक्षित रह सकता है। इन चारों पुत्र वधुओं में कौन घर को सँभालने में दक्ष और योग्य है। यह परीक्षा मुझे कर लेनी चाहिए।”

सार्थवाह ने अपने समस्त परिजनों को और जातिजनों को बुलाकर एक प्रीति भोज किया और उस अवसर पर सब के

१२ : पीयूष घट

समक्ष अपनी चारों पुत्र वधुओं के हाथ में पाँच-पाँच चावल के दाने देकर कहा : “इन्हें संभालकर रखना और जब मैं माँगू, तब मुझे लाकर दे देना ।”

पहली पुत्र वधू, उज्जिका ने विचार किया : “इस समृद्ध घर में चावलों की क्या कमी है ?” उसने वे दाने फेंक दिए ।

दूसरी ने विचार किया : “ये दाने ससुरजी ने दिए हैं । फेंकने योग्य नहीं हैं ।” उसने खा लिए ।

तीसरी ने उन दानों को रेशमी कपड़े में बाँधकर रत्न करण्डिका में रख छोड़े और सोचा : “जब माँगेंगे, तब दे दूँगी ।”

चौथी ने विचारा : “ससुर जी बुद्धिमान् हैं, पाँच दाने देने में कोई विशेष प्रयोजन होना चाहिए ।” रोहिणी ने वे पाँच चावल के दाने अपने पितृगृह भेज दिए बोन के लिए । पाँच वर्ष में दानों से कोठे भर गए ।

पाँच वर्ष के बाद ससुर ने फिर अपने परिजनों और ज्ञातिजनों के समक्ष प्रीति भोज किया और उनके समक्ष अपने दिए हुए पाँच-पाँच चावल के दाने माँगे । उज्जिका ने कहा “वे मैंने फेंक दिए थे, ये नये दाने लीजिए ।”

भोगवती ने कहा : “मैंने खा लिए थे, नये कहो तो ला दूँ ।” रक्षिता ने वे सुरक्षित लौटा कर कहा : “लीजिए” ।

रोहिणी ने कहा : “उन्हें लाने के लिए गाड़ियाँ चाहिए, आदमी उन्हें नहीं ला सकता । धन्य सार्थवाह रोहिणी की बात से अत्यन्त प्रसन्न हुए और सबके सामने कहा :

“आज से मैं अपने घर का सारा भार रोहिणी को सौंपता हूँ । रक्षिका को मैं सम्पत्ति रक्षा का दायित्व देता हूँ । भोगवती

को रसोईघर की व्यवस्था देता हूँ। उज्झिका को मैं घर की सफाई के लिए नियुक्त करता हूँ।”

मनुष्य की कीमत बुद्धि से आँकी जाती है। रोहिणी सबसे छोटी होती हुई भी अपने बुद्धिबल से सबके ऊपर हो गई।

ज्ञाता० अ० ७/●

## नारी की अभिलाषा !

स्वर्ग नगरी द्वारिका के राज प्रासादों में देवकी अपने विचारों में डूबी सोच रही थी। मानस मंथन चल रहा था। वह देख रही थी—सोच रही थी : “आज, आज तो महल सूना-सा लगता है। शान्ति में सुख है, कोलाहल नहीं ! द्वन्द नहीं ! पर बालक की किलकारी कहाँ है यहाँ।” उसके चिन्तन ने मोड़ लिया :

“मैं कितनी पुण्य हीना हूँ ? कितनी मन्द भाग्या हूँ। सात-सात पुत्रों को जन्म देकर भी मैं एक को भी लाड़ प्यार नहीं कर सकी ! खिला-पिला नहीं सकी ! स्तनपान नहीं करा सकी ! गोद में लेकर दुलार नहीं कर सकी ! छह पुत्र सुलसा के यहाँ पाले गए, और कृष्ण को भी कंस से बचाने के लिए नन्द के यहाँ भेजना पड़ा। मैं कैसी माता हूँ ? छह दीक्षा ले गए, अब वह लौटने वाले नहीं, कृष्ण भी अब राजनीति में उलझा रहने से कभी-कभी मेरे पास आता है। हाय नारी का भाग्य……!”

## १४ : पीयूष घट

कृष्ण, आज माता देवकी के चरण वन्दन करने आया था। परन्तु माता की उदासी और खिन्नता वह देख नहीं सका। पुत्र माता के दुःख को सह नहीं सकता। उदासी का कारण समझा तो कृष्ण ने कहा :

“माँ ! तुम चिन्ता मत करो। तुम्हारी अभिलाषा पूरी होगी। मेरा आठवाँ भाई होगा। उसका तुम लाड़-प्यार और दुलार करना।”

तेला करके कृष्ण ने हरिण गमेषी देव की आराधना की। प्रसन्न होकर देव ने कहा :

“मैं आपका यह कार्य कर सकता हूँ। पर एक शर्त के साथ देवकी के पुत्र अवश्य होगा, परन्तु तरुण होने पर वह दीक्षा लेगा।”

बुद्धिमान वर्तमान को साधते हैं। भविष्य की चिन्ता नहीं करते। ठीक समय पर देवकी ने एक सुन्दर, सुकुमार और कान्त पुत्र को जन्म दिया। जीवन की साध पूरी हुई। गज-तालु के समान सुकोमल होने से उसका नाम गजसुकुमार रखा गया।

—अन्त० व० ३ अ० ६/●

## सुभद्रा जीत गई !

चम्पा नगरी में जिनदत्त श्रावक की एक रूपवती एवं गुणवती सुपुत्री थी। नाम था सुभद्रा। सुभद्रा अपने सद्गुणों से आस-पास प्रसिद्ध थी। सुभद्रा जैन थी, और जैन-धर्म में उसे प्रगाढ़ अनुराग था। पिता का संकल्प था, सुभद्रा का विवाह उसी युवा से होगा जो जैन-धर्म में अनुरक्त होगा।

एक बौद्ध युवक ने सुभद्रा के अनुपम रूप को देखा, और मुग्ध हो गया। सुभद्रा की सहज सुषुमा ने और उसके स्वाभाविक सद्गुणों ने बौद्ध युवक को जैन बनने के लिए मौन प्रेरणा दी। एक आचार्य की सेवा में उपस्थित होकर उसने पांच अणुव्रत अंगीकार कर लिए वह जैन-साधना में इतना सजग था, कि अल्प काल में ही वह प्रसिद्ध श्रावक बन गया।

सुभद्रा के पिता ने उसे जैन-धर्म में अनुरक्त समझकर सुभद्रा का विवाह उस युवा के साथ कर दिया। परन्तु सास और ननद सब बौद्ध थे। वे सब सुभद्रा से द्वेष करने लगे, और उसे बौद्ध बनाने का षड्यन्त्र करने लगे। सुभद्रा अपने धर्म में सदा सजग और सतेज रही। वह अपने धर्म का पालन करती रही। विद्वेषी मनुष्य सदा दोष ही देखा करता है।

एक बार एक जिन-कल्पी श्रमण नगर में आये। मेघ गर्जन पर मयूर चुप नहीं बैठ सकता। सुभद्रा के मानस में अपार



हर्ष था। वह संकल्प कर रही थी, “साधूनां दर्शनं, तीर्थभूता हि साधवः।” सुभद्रा की साध आज वर्षों बाद पूरी हुई थी।

सुभद्रा ने सद्गुरु को वन्दन किया और सुख-शान्ति पूछी। सुभद्रा की आँखों से यह छुपा न रह सका कि मुनि की एक आँख में तिनका पड़ा है। सती सुभद्रा ने अपनी जीभ से तिनका निकालने का सत्प्रयत्न किया तो सुभद्रा के तिलक का सिन्दूर मुनि के भाल पर भी लग गया। सास और ननद ने सती को कलंक लगाने का अवसर हाथ से नहीं खोया। सुभद्रा का पति भी सती पर सन्देह करने लगा और वह घर वालों के दूषित प्रचार से प्रभावित होकर बौद्ध बन गया।

सुभद्रा को अपनी चिन्ता नहीं थी, परन्तु अपने धर्म के अपमान की अधिक चिन्ता थी। सच्चा धार्मिक कभी भी अपने धर्म और संस्कृति का तिरस्कार नहीं सह सकता। जहाँ अपना घर समझ कर सुभद्रा आई भी, वहीं उस पर सन्देह हुआ। उसे सबने अपने सतीत्व की परीक्षा देने को कहा।

सती सुभद्रा ने नगर के बन्द द्वारों को खोलकर और छलनी में नीर भरकर अपने सतीत्व का प्रबल प्रमाण उपस्थित करके नगर-जनों की श्रद्धा पुनः प्राप्त की, धर्म-विमुख पति को पुनः धर्मान्मुख किया, अपने सास, ससुर और ननद को जैन-धर्म में अनुरक्त किया और अपने धर्ममय गौरव को बढ़ाया।

## वात्सल्य दूध बन कर स्तन से फूट पड़ा !

एक बार भगवान् नेमिनाथ द्वारिका नगरी पधारे । भगवान् के भिक्षु संघ में छह भिक्षु एक जैसे थे । रूप में, रंग में और वय में तुल्य थे । वे छह के छह सहोदर भ्राता थे । सुन्दर, दर्शनीय और कान्त । उनके शरीर के अवयव कमल से भी कोमल थे । देखने वालों को विस्मय होता था ये भोग की वय में योगी और तपस्वी क्यों बन गए ? उन्हें बेला-बेला पारणा करते देख लोगों को आश्चर्य होता था ।

पारणे का दिन था । छहों ने दो-दो की टोली बनाकर भगवान् से पारणा लाने की आज्ञा लेकर द्वारिका में प्रवेश किया । गरीब और अमीर, महल और झौपड़ी—सभी में सर्वत्र वे अपनी विधि से भक्त-पान की गवेषणा करते-करते देवकी रानी के महल में क्रमशः कुछ समय के अन्तर के साथ जाते रहे । देवकी ने हर्ष के साथ विधिवत् उन्हें मोदकों का उदारता से दान दिया । एक बार, दो बार फिर तीसरी बार भी दान करने में देवकी को हर्ष था, उल्लास था । परन्तु एक चिन्ता भी उत्पन्न हो गई । सोचने लगी :

“क्या कारण है, इस विशाल नगरी में जहाँ कृष्ण वासुदेव राज्य करता है, जहाँ बड़े-बड़े सेठ साहूकार रहते हैं, वहाँ भिक्षुओं को भिक्षा नहीं मिलती ?”

१८ : पीयूष घट

भिक्षुओं का समान वर्ण, समान रूप, समान आकृति और समान वय होने से देवकी रानी को उनकी भिन्नता का परिबोध न हो सका ।

भिक्षुओं की तीसरी टोली से देवकी ने जिज्ञासा भाव से विनम्र शब्दों में पूछा :

“भंते विशाल द्वारिका में अन्यत्र भिक्षा सुलभ नहीं है ? आपको बार-बार (तीन-तीन बार) मेरे यहाँ पर आने का कष्ट करना पड़ रहा है ?”

भिक्षुओं ने शान्त भाव से कहा :

“देवानुप्रिय, हम सब एक ही नहीं हैं । अलग-अलग हैं । जो पहले आये, वे हम नहीं ! दूसरे आये, वे पहले नहीं । पहले वाले पहली ही बार आए हैं, तीसरी बार नहीं । वैसे हम छहों भगवान् नेमिनाथ के शिष्य हैं । भद्रिलपुर नगर के नाग गाथापति हमारे पिता हैं ।

देवकी ने यह सुना तो अतीत की एक मधुर स्मृति ताजा हो गई । सोचने लगी :

“एक बार पोलासपुर नगर में अतिमुक्त श्रमण ने मुझ से कहा था : देवकी, तू नल कुबेर जैसे सुन्दर, दर्शनीय और कान्त आठ पुत्रों को जन्म देगी । भरत क्षेत्र में अन्य किसी माता को इतने सुन्दर पुत्रों को जन्म देने का सौभाग्य नहीं मिलेगा । तो क्या, मुनि की वह वाणी मिथ्या है ? मैं भगवान् से पूछूँगी । इन छहों पुत्रों को जन्म देने वाली माता धन्य है । कितने सुन्दर-सुकुमल पुत्र हैं ?”

देवकी अपने सुन्दर रथ में बैठकर भगवान् के दर्शन को गई। भगवान् ने कहा : “देवकी, तेरे मन में यह शंका है ? पर, देवकी यह शंका उचित नहीं है।” भगवान् ने आगे कहा :

“भद्रिलपुर के नाग गाथा पति की पत्नी सुलसा मृत बन्ध्या थी। उसने हरिण गमेषी देव की भक्ति की थी। देव प्रसन्न हो गया। देवकी, तुम और सुलसा एक साथ गर्भ को धारण करतीं थी और एक साथ पुत्रों को जन्म देती थीं। देव तुम्हारे पुत्रों को सुलसा के पास ले जाता और सुलसा के मृत पुत्रों को तुम्हारे पास ले आता था। देवकी, जिन छहों भिक्षुओं को तुमने देखा है, वे सुलसा के नहीं, तुम्हारे ही अंगज पुत्र हैं। अतिमुक्त मुनि की वाणी मिथ्या नहीं है।” यह सुनकर देवकी को अपार हर्ष और अत्यन्त उल्लास हुआ।

देवकी वहाँ से उठकर छहों भिक्षुओं के पास गई और वन्दन करके समीप बैठ गई। उन्हें देखकर देवकी के स्तनों से दूध की धारा फूट निकली। पुत्रों का वात्सल्य दूध बनकर फूट निकला। उसकी कंचुकी भीग गई। वह अपने को धन्य-धन्य समझ रही थी।

—अन्त कृ० वर्ग० ३ अ०८/ ●

## सुलसा की धर्म-परीक्षा !

भगवान् महावीर के युग में अम्बड, एक प्रसिद्ध सन्यासी था। वह भगवान् के सिद्धान्तों से अत्यन्त प्रभावित था। एक बार उसने विचार किया : “राजगृह में भगवान् के हजारों-लाखों भक्त हैं। मैं राजगृह जाने का संकल्प रखता हूँ। अपना यह संकल्प मैं भगवान् से व्यक्त करूँ। देखें, भगवान् किसको अपना धर्म सन्देश देने को कहते हैं।”

अम्बड सन्यासी ने कहा : “भंते, मेरा राजगृह जाने का विचार है। आपकी कोई सेवा हो, तो फर्माएँ !”

प्रभु ने शान्तभाव से कहा : “वहाँ मेरी एक भक्ता है— सुलसा। उसको ‘दमस्व’ कहना।”

अम्बड ने विचार किया : “इतने विशाल नगर में से केवल सुलसा का ही नाम क्यों लिया ! सुलसा की भक्ति की परीक्षा तो कर देखूँ ?”

मार्ग में चलते अम्बड को विचार आया, “पुण्यशीला है सुलसा, जिसको अरिहन्त भी याद करते हैं।” सुलसा के घर पहुँच कर अम्बड सन्यासी ने अनेक प्रकार की परीक्षा की। परन्तु सुलसा की निष्ठा, श्रद्धा और भक्ति में कण भर भी अन्तर नहीं पड़ा। सन्यासी ने अनेक वैक्रीय रूप बनाकर सुलसा को अपनी शिष्या बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु जरा भी सफलता नहीं मिली। सुलसा ने गुरु बुद्धि से नमस्कार भी नहीं किया।

मुलसा की दृष्टि में देव अरिहन्त, गुरु निर्ग्रन्थ और दयामय धर्म के प्रति अनन्य श्रद्धा भावना थी। परीक्षा में वह सफल रही।  
दशवै० अ० ३, नि० गा० १८२/●

## जीवन के उत्थान-पतन की कहानी !

चम्पा नगरी में सोम, सोमदत्त और सोममूर्ति तीन सहोदर भाई थे। उनके नागश्री, भूतश्री और यक्षश्री तीन पत्नियाँ थीं। एक दिन भोजन बनाने की बारी नागश्री की थी। भूल से उसने कड़वा तूँबा बना लिया। परिजनों की निन्दा के भय से उसने धर्मघोष के शिष्य धर्मरुचि अणगार को दे दिया। मुनि ने जीवों की दया सोचकर उस विषाक्त तूँबे को डाला नहीं, खा लिया। धर्मरुचि मुनि के मरण के कारण को सुनकर नगर के लोगों ने नागश्री को धिक्कारा और घर वालों ने भी उसे निकाल दिया। आर्त एवं रौद्र ध्यान के कारण वह मरकर नरक में गई।

नागश्री का जीव अनेकों जन्मों के बाद चम्पा नगरी वासी सागरदत्त सार्थवाह की पत्नी भद्रा की कूँख से पत्नी के रूप में जन्मा। नाम रखा—सुकुमालिका। वह सुन्दरी थी, रूपवती थी, परन्तु विषकन्या थी। जिनदत्त सार्थवाह के रूपवान् पुत्र सागर ने उसके साथ विवाह किया, पर शीघ्र ही उसे छोड़ दिया। फिर एक दरिद्र के साथ उसका विवाह किया, वह भी सुकुमालिका को छोड़कर भाग गया।

सुकुमालिका अपनी अपमान भरी जिन्दगी से तंग आकर बहु श्रुता गोपालिका आर्या के पास दीक्षित हो गई। एक बार वह सुभ्रति बाग में तपस्या कर रही थी, वहाँ उसने देवदत्ता गणिका के साथ पाँच पुरुषों को देखा। प्रसुप्त वासना जाग उठी। संकल्प किया, मेरे तप का कोई फल हो, तो मुझे भी पाँच पुरुषों का संयोग मिले। मनुष्य अपनी साधना के अमृत में विष घोलने का आदि रहा है।

देह त्याग कर वह देवी बनी। वहाँ से पंचाल देश के कापिल्य नगर में द्रुपद राजा की रानी चुलणी की पुत्री बनी। नाम था, द्रोपदी। वृष्टद्युम्न इसका भाई था। पिता ने स्वयंवर रत्ना, जिसमें अनेकों देशों के राजकुमार और राजा आए। द्रोपदी ने पाँच पाण्डवों के गले में पाँच रंग की मालाएँ डालकर उन्हें पति रूप से स्वीकार कर लिया।

हस्तिनापुर में घूमता-घूमता नारद आ पहुँचा। सबने उठकर सत्कारपूर्वक नमस्कार किया। परन्तु द्रोपदी ने नारद को असंयत और अविरत जानकर वन्दन नहीं किया। नारद ने बदले की मन में गाँठ बांध ली। अपूर्ण मनुष्य, अपने अपमान को कभी भूलता नहीं है। आग लगाकर दूर खड़े तमाशा देखने वालों में नारद विख्यात है। वह धातकी खण्ड द्वीप में पूर्व के दक्षिणार्ध भरत की अपर कंका नगरी के राजा पद्मनाभि के पास जा पहुँचा। इनकी सात-सौ रानियाँ थीं। पुत्र एक ही था, नाम था सुनाम राजकुमार।

नारद के मुख से द्रोपदी के रूप की प्रशंसा सुनकर राजा ने देव की सहायता से उसे अपने यहाँ मंगा लिया। पाण्डव हैरान

थे । कृष्ण को नारद से ज्ञात हो गया । पाण्डवों को लेकर कृष्ण देव की सहायता से अपरकंका में जा पहुँचा । युद्ध किया । द्रोपदी को लेकर लौट रहा था कि कपिल वासुदेव ने सुव्रत अरिहन्त के कथनानुसार कृष्ण के रथ की ध्वजा को देखा । दोनों ने शंख बजाया । कृष्ण लवण सागर के देव से मिलने ठहर गया और द्रोपदी सहित पाण्डव नौका से गंगा पार करके नौका छुपा कर बैठ गए । कृष्ण अपने बल से गंगा पार करके आ गया । पाण्डवों के इस व्यवहार से कृष्ण नाराज हो गए । पाण्डवों को देश निष्काषित कर दिया । बाद में कुन्ती की प्रार्थना पर पाण्डवों को मथुरा दे दी ।

अन्त में प्रव्रजा लेकर पाँचों पाण्डव अपनी साधना से सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए । द्रोपदी भी आर्या बनी, शुद्ध साधना करी । देव बनी वहाँ से महाविदेह में मुक्त हो गई ।

—ज्ञाता अ० १६/●



## आर्या चन्दना का उपालम्भ !

कौशाम्बी नगरी में भगवान् महावीर का समवसरण लगा था। मृगावती दर्शन को गई। परन्तु वहाँ विलम्ब हो गया, क्योंकि चन्द्र और सूर्य भी भगवान् के दर्शनों को आए थे, अतः समय का पता न लगा। जब मृगावती स्वस्थान को लौटी तो विकाल हो चुका था।

आर्या चन्दना ने मृगावती को कहा : “उत्तम कुलोत्पन्न होकर भी तुमने लौटने में विकाल क्यों किया ?”

कुलीन नारी को मधुर उपालम्भ भी पर्याप्त होता है। मृगावती ने अपनी भूल की विनम्र स्वर में क्षमा माँगी और भविष्य में सजग रहने का संकल्प व्यक्त किया।

आर्या चन्दना सो गई, और मृगावती बैठी-बैठी अपनी भूल का पश्चाताप करती रही। वह सोचने लगी : “मैंने यह भूल क्यों की। मुझे अपने मत में अप्रमत्त रहना चाहिए।”

शुभ अध्यवसायों की परिणति बढ़ती रही। इतनी बढ़ी कि केवल-ज्ञान का दिव्य प्रकाश हो गया।

रात के अँधेरे में एक साँप इधर-उधर घूमता हुआ वहाँ आ निकला। मृगावती ने आर्या चन्दना का हाथ धीरे से उठाकर ऊपर कर दिया। निद्रा खुल जाने से चन्दना ने पूछा :

“यह क्यों ?” मृगावती ने विनम्र स्वर में कहा : “एक सर्प इधर से निकल रहा था।”

परन्तु रात के घोर अन्धकार में सर्प का बोध तुम्हें कैसे हो गया ?”

मृगावती ने शान्त स्वर में कहा : “मुझे अब कहीं पर भी अन्धकार नहीं, सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दृष्टिगत होता है।” चन्दना ने मृगावती के इस सत्य को स्वीकार किया। ●

## विश्वास बदला तो विश्व बदला !

मगध जनपद में राजगृह एक शोभित नगर था। वह मगध की राजधानी थी। राजा श्रेणिक और महारानी धारिणी अपने देश और नगर की प्रजा का अपनी निज सन्तान की तरह संरक्षण और संवर्धन करते थे। प्रजा भी श्रद्धा और भक्ति से उनके आदेशों का परिपालन करने में अपना हित समझती थी।

महारानी धारिणी सुख निद्रा में सोई थी। स्वप्न में उसने देखा—एक श्वेत गजराज उसके मुख के अन्दर प्रवेश कर रहा है। रानी अपनी शैया से तुरन्त उठ बैठी, और राजा के शयन कक्ष में जाकर सविनय बोली :

“प्राणनाथ, मैंने अभी-अभी यह स्वप्न देखा है। यह शुभ है या अशुभ ! इसका फल क्या है ?”

श्रेणिक ने मधुर स्वर में कहा : “प्रिय, तुम्हारा यह स्वप्न शुभ है। इस शुभ स्वप्न के तीन महा लाभ निर्बाध होने वाले हैं—पुत्र लाभ, अर्थ लाभ और राज्य लाभ।” स्वप्न फल सुनकर रानी राजा को वन्दन करके वापिस अपने शयन कक्ष में लौट आई।

योग्य समय पर रानी के पुत्र जन्म ने राजभवन, नगर और देश को मुखरित कर दिया। राजकुमार का नाम मेघकुमार रखा गया। कलाचार्य के पास रहकर मेघकुमार ने अपनी तीव्र प्रतिभा से समस्त कलाएँ और विद्याएँ सीख लीं। युवा होते ही अनेक सुन्दरी एवं गुणवती राजकन्याओं के साथ मेघ का विवाह हो गया। संसार के विषय सुख में मेघकुमार निमग्न हो गया।

आध्यात्मिक जागरण का आघोष करने वाले प्रभु महावीर राजगृह नगर के गुणशीलक बाग में आकर विराजित हुए। नगर के हजारों जन, दर्शन और अमृत वाणी का महालाभ लेने आने लगे। मेघकुमार की मोह निद्रा भंग हुई। वह भी परम प्रभु के पावन चरणों में पहुँच गया। देशना सुनकर भावितात्मा हो गया। उसके मन में यह प्रश्न बिजली की तरह कोंध गया :

“मुझे किधर जाना चाहिए था, और किधर चल पड़ा है ! मैं एक राह भूला राही था, अब राह बताने वाला मिल गया। यदि अब न सँभला तो फिर कब सँभलूँगा ?”

मेघकुमार का जन्म-जन्म का सोया मनुवा गुरु-शब्द सुनकर जाग उठा। जो संसार अभी तक मधुर एवं सुखद था, अब दृष्टि बदलने से ही वही खारा और दुःखद हो गया। महल वही थे, राज-रानियाँ वही थीं, राग-रंग वही सब—ज्यों का त्यों ! परन्तु

मन बदलने से सब बदल गया था। विश्वास बदला तो विश्व बदल गया।

रंग-रंगीले महल, मेघकुमार के लिए कारागृह हो गए। प्राणप्रिया वनिताएँ पैर की बेड़ी बन गईं। परन्तु मेघकुमार के आध्यात्मिक जागरण ने एक झटके में उन्हें तोड़कर दूर फेंक दिया। अब यदि कोई बन्धन शेष था तो जन्म देने वाली माता की सहज ममता थी। मनुष्य सब कुछ ठुकरा सकता है, परन्तु माता की ममता का वह सहसा तिरस्कार नहीं कर सकता। धीरे-धीरे अनुनय-विनय से मेघकुमार ने माता की ममता पर भी विजय पा ली। आत्म-बोध की तीव्र भावना लेकर वह प्रभु के चरणों में जा पहुँचा।

परम प्रभु महावीर के चरणों में उपस्थित होकर मेघकुमार ने विनीत भाव से कहना आरम्भ किया :

“भंते, यह संसार विषय और कषाय की आग से जल रहा है। घर में आग लग जाने पर गृह स्वामी अपनी सारी वस्तुएँ लेकर बाहर निकल आता है, वैसे ही मैं भी अपनी प्रिय वस्तु आत्मा को इस प्रज्वलित संसार गृह से निकाल लेने की भावना से प्रव्रजित होना चाहता हूँ।”

मेघकुमार की माता महारानी धारिणी ने स्नेह भरे हृदय से और अश्रुपूर्ण नेत्रों से भगवान् की ओर देखते हुए विनम्र भावेन निवेदन किया :

“भंते, यह मेघकुमार मेरा पुत्र है। मुझे यह अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय है, कान्त है, इष्ट है और प्रिय है। जिस प्रकार कुमुद पंक में से पैदा होकर भी पंक और जल से अभिलिप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह मेरा मेघ भी काम-भोगमय जीवन व्यतीत

करके अब काम-भोगों से निर्लिप्त होने की भावना रखता है। भंते ! मैं आपको यह शिष्य-भिक्षा दे रही हूँ। स्वीकार कर मुझे कृतार्थ कोजिए, मेरी प्रार्थना अंगीकार कीजिए।”

मेघकुमार के प्रव्रजित होते ही माता धारिणी ने गद्गद् स्वर में कहा : “तात, तुम अब आगार से अणगार बने हो। संयम-साधना में प्रयत्न करना, पराक्रम करना, जरा भी प्रमाद मत करना, इन्द्रियों का निग्रह करना, मनोवृत्तियों का निरोध करना, राग और द्वेष पर विजय पाना और शुक्ल-ध्यान के बल से सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनना। मेरी तरह किसी अन्य मातृ-हृदय के रोदन में निमित्त मत बनना, वत्स !

मेघकुमार अब राजकुमार नहीं, एक आत्म-साधक भिक्षु बन गया। अन्य भिक्षुओं की तरह वह भी भगवान् के आदेशों का परिपालन करने को तत्पर हो गया था।

प्रव्रजा दिवस की पहली रात थी। मेघकुमार की शैया लघु होने के कारण सब भिक्षुओं के अन्त में द्वार के पास थी। आते-जाते भिक्षुओं के पैरों की रज और ठोकरों से मेघकुमार सुख से सो नहीं सका। वह अधीर हो गया। उसके मन में विचार उठा :

“ये भिक्षु कितने स्वार्थी हैं ? जब मैं राजकुमार था, तब मेरा कितना आदर करते थे और अब कितना अनादर करते हैं ! ठोकरें मारते फिरते हैं। मुझ से इस प्रकार का संयम नहीं पल सकेगा। भगवान् का यह संयम मार्ग भगवान् को ही मुबारक हो।”

वह राजभवन का आदर-सत्कार मेघकुमार की कल्पना में बिजली बनकर कौंध गया। रात जैसे-तैसे करवट बदलते कट गयी।

उधर सूर्य उदीयमान था, इधर मेघकुमार भगवान् के चरणों में रात बीती सुनाने पहुँचा। मेघकुमार को आते देख, भगवान् ने स्वयं कहा : “मेघ, रात तुम्हें बड़ी वेदना रही। सुख से निद्रा नहीं आ सकी। आते-जाते भिक्षुओं के पैरों की ठोकरों से तुम अधीर हो उठे, और संयम त्याग का संकल्प किया।”

मेघकुमार ने सब स्वीकार किया।

भगवान् ने सान्त्वना देते हुए कहा : ‘मेघ ! वर्तमान मानव भव से पूर्व, तीसरे भव में और दूसरे भव में तुम गज योनि में थे। वहाँ एक शशक की दया करने के लिए तुमने कितना कष्ट उठाया था, और आज तुम मानव होकर भी, उसमें भी भिक्षु होकर साधारण-से कष्ट से इतना अधीर हो गये। मेघ, सावधान ! अपने को सँभालो, वत्स ! अधीर मत हो, समभाव से कष्ट सहन करो। मान-अपमान की तुला पर अपने आपको मत तोल !”

भगवान् की वाणी सुन, मेघकुमार संयम में स्थिर, धीर और अचंचल बन गया और अपना सम्पूर्ण जीवन, संयम और श्रमण सेवा में समर्पित कर दिया। ●

## माता की ममता जीत गई !

साधुता का मार्ग सहज और सुखद नहीं है। वह फूलों का मार्ग नहीं, काँटों का मार्ग है। बलवान् आत्मा ही दृढ़ता के साथ इस मार्ग पर आगे बढ़ सकती है।

एक बार तगरा नगरी में विहार करते-करते आचार्य अर्हन् मित्र अपने शिष्य वर्ग के साथ पधारे। आचार्य की कल्याणी वाणी सुनकर वणिकदत्त को वैराग्य हो गया। प्रव्रजा लेने का संकल्प किया। भद्रा पत्नी और अरणक पुत्र ने भी संयम लेने की भावना व्यक्त की। तीनों प्रव्रजित हो गए। दत्त को अरणक पर अत्यन्त स्नेह था। वह स्वयं ही उसकी भिक्षा लाता और सेवा करता था। अति स्नेह भी अनर्थकर होता है। अरणक कर्मठ नहीं बन सका। दूसरे साधु मन में सब समझते हुए भी बाहर में कुछ कह नहीं सकते थे। सभ्यता भी एक अर्गला है, जिसमें अन्ध होना ही पड़ता है।

कालान्तर में वृद्ध पिता दत्त के देहावसान पर अरणक को बड़ी चिन्ता हुई। दो-चार दिन तक सन्तों ने अरणक को भोजन-पान लाकर दिया। बाद में स्वयं उसको ही लाना पड़ता।

भीष्म ग्रीष्म पड़ रहा था। ऊपर से सूर्य तप रहा था, नीचे से धरती तप रही थी। गरम लू चल रही थी। अरणक आज पहली बार भिक्षा को निकला था। गरमी, भूइ और प्यास—

तीनों ने मिलकर अरणक को अधीर बना दिया। वह एक गृह की छाया में खड़ा हो गया। संयम की कठोरता को वह मन ही मन अनुभव कर रहा था।

सहसा एक तरुणी नारी ने उसे गली में क्लान्त खड़ा देखा। नारी रूप देखती है। अपनी दासी को भेजकर उसने अरणक को ऊपर बुला लिया !

पूछा : “आप कौन हैं ? और क्या चाहते हैं ?”

“मैं भिक्षु हूँ, और भिक्षा लेने आया हूँ।”

नारी ने मधुर स्वर में पूछा : “आप भिक्षु क्यों बने ? यह सुन्दर शरीर क्या तप के लिए है ? यह तारुण्य निष्फल क्यों खोते हो ?”

नारी के वचनों का साधुर्ष्य पुरुष को वेभान कर देता है ! अरणक योग को भूल गया और भोग के दल-दल में धंस गया ! अरणक भोग के अन्धकार में खो गया, वह मार्ग भूल गया।

इधर स्नेही साथी साधुओं ने बहुत देखा भाला, पर अरणक का कहीं पता नहीं लगा। साध्वी माता भद्रा को ज्ञात हुआ : “अरणक भिक्षा को गया था, अभी लौटा नहीं।”

माता की ममता जाग उठी। वह नगरी की गली-गली में, डगर-डगर में अरणक को खोज रही थी। जिस किसी को भी वह मार्ग में देखती उसे अरणक का परिचय देकर पूछती : “क्या तुमने देखा है, कहीं पर मेरा लाल।”

संसार में सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। दूसरे के सन्तान पर हँसने वाले भी हैं, तो सहानुभूति रखने वाले भी हैं। परन्तु अरणक का पता नहीं लग सका।



## ३२ : पीयूष घट

भद्रा पगली बन चुकी थी। अति शोक मनुष्य को उन्मत्त कर देता है। गवाक्ष में बैठे अरणक ने इस पगली नारी को देखा। यह वात्सल्य की प्रति-मूर्ति उसकी जानी-पहचानी थी। उसे अपनी करनी पर खेद हो आया। स्नेहाभिभूति हो तल्ले से उतर पड़ा। माता के सम्मुख आँसू भर कर बोला : माता ! मेरी माता, और उसकी यह दशा ? माँ, मैं हूँ तेरा अरणक ! क्षमा करो माता, मेरे गुरुतर अपराध को।”

नारी का स्नेह हार गया। माता की ममता जीत गई। अस्वस्थ अरणक स्वस्थ हो गया।

अरणक ने माता से पुनः सविनय कहा : “माता, मैं लम्बा संयम नहीं पाल सकता। मार्ग भले ही कठोर हो, परन्तु छोटा हो। आज्ञा हो, तो अनशन कर लूँ !”

आचार्य की सेवा में पहुँचकर आलोचना की जीवन की संशुद्धि की और आचार्य तथा माता को आज्ञा से तप्त शिला-खण्ड पर पादपोषण गमन संधारा कर लिया। अल्पकाल में ही सुकोमल शरीर नवनीत-सा पिघल गया। अरणक ने अपना कार्य साध लिया।

अरणक जितना भीरु था, उतना ही वीर निकला। ग्रीष्म परीषह को जीतने वाले साधक के लिए यह आवश्यक है कि वे अपनी सुकुमालता का परित्याग करें।

उ० अ०, नि० गा० ६२/●

# पुरुष की शक्ति !



## जवानी का तूफान !

मगध सम्राट विम्बसार श्रेणिक के दो तेजस्वी पुत्र हुए थे—नन्दा रानी का अभयकुमार, और चेलना रानी का कोणिक। अभयकुमार श्रेणिक का मन्त्री था। विकट-सै-विकट समस्या को भी अभय अपनी बुद्धि से सहज ही सुलझा देता था। अभयकुमार विनीत, विनम्र और शिष्ट था। वह राजा को अत्यन्त प्रिय था। कोई भी राज्य का काम अभय की अनुमति के बिना नहीं हो पाता था। अभय बुद्धिमान् था, भक्तिवान् था, और व्यवहार में मधुर तथा चतुर भी। प्रजाजन भी अभय को प्रेम भरी दृष्टि से देखते थे।

कोणिक अपने जीवन के प्रारम्भ से ही उद्धत, अविनीत और अहंकारी था। जब वह चेलना के गर्भ में था, तो चेलना को अपने पति श्रेणिक के कलेजे का मांस खाने का दोहला हुआ था। इस अशुभ पुत्र को जन्मते ही चेलना ने उसे कुरड़ी पर फिकवा दिया था। अपने गर्भ को नष्ट करने के लिए भी चेलना रानी ने प्रयत्न किया था। किन्तु श्रेणिक के पितृ-हृदय ने सदा कोणिक को प्यार किया और रक्षा भी। कोणिक की रक्षा के लिए श्रेणिक ने चेलना को विशेष प्रेरणा भी दी थी। वह कोणिक को अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित देखना चाहता था। गुलाबी बच्चपन से निकल कर कोणिक ने अपने महकते यौवन में प्रवेश किया। आठ राज-कन्याओं के साथ उसका परिणय हो

३६ : पीयूष घट

गया। जीवन के सुख-भोगों में कोणिक मत्त हो गया। भोग-विलास, वैभव—इन तीनों में वह ग्रस्त था !

कोणिक की राज्य-लिप्सा जाग उठी। उसने पिता से कहा : “तुम वृद्ध हो गए हो। फिर भी, अभी तक राज्य लोभ नहीं छूटा है। मैं कब राज्य करूँगा ? मेरा यौवन तीव्र गति से बौता जा रहा है।” उसने अपने कालीकुमार प्रभति दस भाइयों को अपने अनुकूल बनाकर विद्रोह कर दिया, और राज्य सिंहासन पर अधिकार कर लिया। पिता श्रेणिक को जेल के सींखचों में बन्द कर दिया। किसी को भी मिलने की अनुमति नहीं थी। अपनी माता चेलना के अत्यन्त अनुरोध पर दिन में केवल एक बार मिलने की अनुमति न जाने उसने कैसे दे दी थी।

मनुष्य कितना भी कठोर क्यों न हो, वह सब कुछ भूल सकता है; परन्तु अपनी जन्म देने वाली माता को नहीं भूल सकता। एक बार कोणिक के मन में माता के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। वह वन्दन करने आया। माता चेलना उदास बैठी थी, कोणिक ने पूछा :

“अम्ब आज इतना उदास क्यों ? तुम्हारा पुत्र कोणिक आज मगध और अंग देश का सम्राट है, अधिपति है। प्रसन्नता के बदले यह खिन्नता क्यों ?”

“जिस पुत्र ने अपने पिता को बन्दी बना कर जेल में डाल दिया है, क्या वह माता के साथ वैसा व्यवहार नहीं कर सकता ?” चेलना ने भर्त्सना के स्वर में कहा।

चेलना ने फिर अपने दबे उद्गारों को व्यक्त करते हुए कहा : “कोणिक, तू नहीं जानता कि तेरे पिता तुझसे कितना प्यार करते थे।” अन्तर दुःख के उद्वेग के साथ चेलना ने कोणिक को गर्भ

में आने से लेकर पालन-पोषण और उसके विवाह तक की घटनाओं को कह सुनाया। कोणिक ने अभी तक जिस दृष्टि से पिता को देखा था, यह दृष्टि उससे सर्वथा भिन्न थी।

पिता का मधुर स्नेह, जीवन रक्षा और शिक्षा—ये सब बातें कोणिक के जीवन में नया मोड़, नया ढंग और नई दिशा देने लगीं। चेलना के मातृ-स्नेह से उद्भूत उद्गारों ने कोणिक को जीवन में गहरा उतरने को विवश कर दिया। वह तुरन्त तेज गति से पिता को मुक्त करने चल पड़ा। अपने क्रूर कर्म पर वह अन्दर ही अन्दर जल रहा था। नहीं सोच सका वह, मैं जो करने जा रहा हूँ, उसका विपरीत परिणाम भी हो सकता है।

श्रेणिक ने कोणिक को उग्र रूप में आते देखा, तो घबरा गया। उसने सोचा : “यह न जाने किस मौत से मुझे मारेगा। मरना तो है ही, स्वयं क्यों न मर जाऊँ !” तालपुट विष खाकर श्रेणिक ने कोणिक के पहुँचने से पहले ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी। कोणिक अत्यन्त सन्तप्त हो उठा। वर्षों से संचित क्रूर कर्मों का हिम-पटल पश्चाताप के आतप से पिघल-पिघल कर आँसुओं के रूप में बह चला ! विलाप, वेदना और रोदन से सारा महल शोक सन्तप्त हो गया !

पिता की दारुण मृत्यु ने कोणिक के जीवन को बदल दिया। दृष्टि बदली, तो सृष्टि ही बदल गई। नजर के फेर से दुनिया बदलती है। उद्धत, क्रूर, अहंकारी कोणिक अब विनीत, मृदु और नम्र बनने का प्रयत्न करने लगा। अपने विशाल राज्य के उसने ग्यारह सम-विभाग करके अपने भाइयों को बाँट दिए। पिता की मृत्यु के कलंक को धोने के लिए या भूलने के लिए उसने मगध को छोड़कर अंग देश की चम्पा को अपनी राजधानी बनाया।

३८ : पीयूष घट

कोणिक चम्पा में रहने लगा। उसके सहोदर भाई हल्ल-विहल्ल भी चम्पा में ही रहते थे।

एक बार भगवान् महावीर विहार करते-करते चम्पा नगरी पधारे। राजा कोणिक को सूचना मिली। कोणिक भगवान् का भक्त था। उसने दर्शन व वन्दन को जाने का संकल्प किया। सम्पूर्ण नगर सजाया गया। विशाल सेना, विपुल वैभव और समग्र अन्तःपुर के साथ सज-धजकर कोणिक भगवान् की धर्म-सभा में आया। भगवान् को वन्दना करके कोणिक बैठ गया। वह एकाग्र और एकनिष्ठ होकर भगवान् की कल्याणी वाणी सुन रहा था। भगवान् कोमल, मधुर और शान्त स्वर में, सर्वजन सुलभ अर्ध-मागधी भाषा में बोल रहे थे :

“यह जीवन—जिसके सौन्दर्य पर मनुष्य मुग्ध है, वह जल में बुद्बुद के तुल्य है।”

“यह जीवन—जिस पर मनुष्य को गर्व और अहंकार है, वह कुशा के अग्र भाग पर स्थित जल-बिन्दु के समान चंचल है।”

“जीव है, अजीव है। जीव का बन्ध भी है, जीव का मोक्ष भी है। पाप भी है, और पुण्य भी है।”

अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है।” भगवान् को मधुर वाग्धारा पर श्रोता मुग्ध थे निमग्न थे, प्रसन्न थे।

परिषदा के चले जाने पर कोणिक भी वन्दन करने को भगवान् के समीप में आया, और नम्र स्वर में बोला :

“भंते, आपका निर्ग्रन्थ प्रवचन श्रेष्ठतम है, वह पवित्रतम है, वह जीवन को स्वच्छ, निर्मल तथा पावन करने वाला है। भंते, मैं उसमें आस्था, निष्ठा और श्रद्धा करता हूँ।”

कोणिक लौट गया। विचारों की ज्योति अपने साथ लेकर।  
कोणिक अब भक्त था, विनम्र था और विनीत था !

—उववाइ सुत्त, निरया०, अ० १, / ●

## कोणिक और चेटक का युद्ध !

हल्ल और विहल्ल—दोनों कोणिक के सहोदर भाई थे और चेलना के अंगज पुत्र थे। अपने जीवनकाल में राजा बिम्बसार श्रेणिक ने अपने हाथों से हल्लकुमार को आसेचनक गन्ध हस्ती और विहल्लकुमार को अठारह लड़ी का वंक हार दिया था। राज्य की दोनों वस्तुएँ रत्न थे।

कोणिक की रानी पद्मावती को इस बात की बहुत दिनों से जलन थी। कोणिक ने एक बार स्पष्ट ही कह दिया था :

“इन दोनों वस्तुओं पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। पिता जी ने अपने हाथों से उन्हें ये वस्तुएँ दी हैं। और फिर, हल्ल-विहल्ल मेरे भाई हैं। उनकी वस्तु मेरी ही वस्तु है।” परन्तु पद्मावती के तिरिया हठ से परेशान होकर कोणिक ने हल्ल-विहल्ल से हार और हाथी की माँग कर ही दी।

हल्ल और विहल्ल ने सोचा : “कोणिक बलवान राजा है। हमारी शक्ति सीमित है। पद्मावती का षड्यन्त्र और कुचक्र शान्त होने वाला नहीं है। आज तो हम से हार और हाथी की माँग की गई है, परन्तु कल हम से वह छीना भी जा सकता



है।” वे दोनों हार हाथी और अपनी रक्षा के लिए अपने नाना चेटक के पास जा पहुँचे।

चेटक वैशाली गणराज्य के अधिपति थे। कोणिक एवं हल्ल और विहल्ल की माता चेलना, चेटक की पुत्री थी। बड़े प्रयास से श्रेणिक ने इसके साथ विवाह किया था। रानी चेलना की सतत प्रेरणा से ही राजा श्रेणिक जैन-धर्म में अनुरक्त बना था।

कोणिक का क्रोध उभर आया, जबकि उसने हल्ल और विहल्ल का व्रत सुना। कोणिक हार और हाथी, और बह भी हल्ल-विहल्ल के साथ लेने को तुल गया; और उधर चेटक भी हार, हाथी तथा हल्ल-विहल्ल की संरक्षा के लिए सर्व प्रकार से सनद्ध था !

दोनों पक्षों की सेना रणभूमि पर छा गई। घनघोर, भयंकर दारुण युद्ध प्रारम्भ हो गया, ! अश्व सेना, रथ सेना, गज सेना तथा पदाति सेना—सभी युद्ध में उतरीं। चेटक ने अपने अमोघ वाणों से कालीकुमार प्रभृति दस कुमारों को मार डाला। इससे क्रुद्ध होकर कोणिक ने महाशिला कण्टक और रथ-मुसल संग्राम की रचना की। अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर कोणिक युद्ध में भिड़ गया था। चेटक हार गया और कोणिक जीत गया। परन्तु विजेता बनने पर भी वह पराजित के बराबर ही था।

क्योंकि उसे हार, हाथी और हल्ल-विहल्ल नहीं मिल सके। बंक हार को देव ले गया, हाथी आग में जला दिया गया और हल्ल-विहल्ल इस स्वार्थ पूर्ण एवं बर्बर संसार का परित्याग करके भगवान् महावीर के पास दीक्षित होकर आत्म-साधक बन गए थे।

युद्ध की ज्वाला में महा योद्धा चेटक भी मर गया। युद्ध का परिणाम कभी सुखद और सुन्दर नहीं होता।

—निरयावलिका सुत्त, अ० १/●

## चक्रवर्ती बनने की लालसा !

जो मनुष्य अपनी शक्ति से, अपनी योग्यता से अधिक फल की कामना करता है और उस फल को समय से पूर्व चाहता है, वह कभी अपना विकास नहीं कर सकता।

एक बार श्रेणिक का पुत्र कोणिक, भगवान् महावीर के दर्शनों को आया। भगवान् के श्रीचरणों में वन्दना करके बोला :

“भंते, जो चक्रवर्ती अपने जीवन में काम-भोगों का परित्याग नहीं कर सकता, वह मरकर कहाँ जाता है ?”

“सातवीं नरक में,” भगवान् ने शान्त स्वर में कहा।

कोणिक अहंकार-वश अपने आपको चक्रवर्ती समझ रहा था। पूछा : “भंते, मरकर मैं कहाँ जन्म लूँगा ?”

“छठीं नरक में !”

“सातवीं में क्यों नहीं, भंते ?”

“तू चक्रवर्ती नहीं है, इसलिए !”

कोणिक ने अधीर होकर पूछा : “भंते क्या मैं चक्रवर्ती नहीं बन सकता ! मेरे पास इतनी विशाल सेना है, इतना विपुल वैभव है, तब भी !”

भगवान् ने कोमल वाणी में कहा :

“वत्स, तुम्हारे पास उतने रत्न नहीं हैं, उतनी निधि नहीं है, जितनी एक चक्रवर्ती के पास होनी चाहिए। इसलिए तुम चक्रवर्ती पद नहीं पा सकते।”

कामना का शिकार मानव अपनी शक्ति का सन्तुलन नहीं कर पाता। कोणिक के मानस में चक्रवर्ती बनने की भूख प्रबल थी; उसने कृत्रिम रत्न बना-बना कर निधि भर ली। विजेता बनने के लिए तमिस्रा गुहा में ज्यों ही प्रवेश करने लगा कि प्रतिपालक देव से निषेध की भाषा में कहा :

“चक्रवर्ती वारह ही होते हैं और वे हो चुके हैं। आप चक्रवर्ती नहीं हैं; अतः इस कन्दरा में प्रवेश करने का साहस न करें। यदि आप इस प्रकार की अनधिकृत चेष्टा करेंगे तो विनाश को प्राप्त करेंगे।”

“विनाश काले विपरीत बुद्धि,” वाली बात हुई। तमिस्रा गुहा में कोणिक के अनाधिकृत प्रवेश करने पर प्रतिपालक देव ने प्रहार किया। कोणिक मरकर छठीं नरक भूमि में उत्पन्न हुआ। चक्रवर्ती बनने की कामना पूरी न कर सका।

दशवै० अ० १, नियुक्ति गा० ७=/

## आसक्ति का जाल !

राजा कोणिक द्वारा शासित चम्पा नगरी में मोकन्दी सार्थ-वाहू रहता था। भद्रा, उसकी सहचरी थी। जिनपालित और जिनरक्षित दो योग्य पुत्र थे। वे चतुर, साहसी और विनीत थे। अनेकों बार उन्होंने व्यापार के लिए लवण सागर की लम्बी यात्रा की।

पिता ने कई बार कहा : “अब अपने को धन की जरूरत नहीं है। पर्याप्त धन तुम कमा चुके हो। अतः खतरे से भरी-पूरी लवण सागर की यात्रा तुम बन्द कर दो !” परन्तु वे नहीं माने, यात्रा पर चल पड़े। जवान के नये खून में जो जोश होता है, वह उसे शान्ति से बैठने नहीं देता। धन की आसक्ति मनुष्य को मृत्यु के मुख में जाने को भी तैयार कर देती है।

लवण सागर की विशाल छाती पर उनका जहाज चला जा रहा था। सागर में सहसा तूफान आ गया। जहाज प्रबल पवन के वेग को न सह सका। एक तख्ते के सहारे से वे रत्नद्वीप जा लगे। वहाँ रत्नद्वीप की एक देवी रहती थी। उसे क्यों ही जिनपालित और जिनरक्षित के आने की सूचना मिली, त्यों ही वह उनके पास आई। अपने सुन्दर प्रासाद में उन्हें ले गई और कहा:

“तुम यहाँ रहो और मेरे साथ पत्नी जैसा व्यवहार करो। मैं आज से तुम्हें अपना पति स्वीकार करती हूँ। यदि तुमने मेरी बात स्वीकार नहीं की, तो तुम्हारा सिर होगा और मेरी खून की

प्यासी तलवार ?” भय और लोभ से मनुष्य अनुचित बात को भी स्वीकार करने में विवश हो जाता है। उन्होंने भी स्वीकार किया।

एक बार रत्ना देवी लवण सागर की देख-भाल करने गई और दोनों से कह गई : “तुम यहीं रहना। मैं जल्दी लौटने का प्रयत्न करूँगी। दक्षिण दिशा को छोड़कर तुम किसी भी दिशा में जाना, सर्वत्र तुम्हें बाग-बगीचे और आमोद-प्रमोद के साधन मिलेंगे। दक्षिण में एक दृष्टि-विष सर्प रहता है, उधर भूलकर भी मत जाना।”

निषेध, मनुष्य के मानस में एक तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है। जिनपालित और जिनरक्षित, देवी के बन्धनों से अकुला गए थे। माता-पिता की मधुर स्मृति और मातृ-भूमि का सहज स्नेह उनके मानस में परलवित हो गया। दृढ़ निश्चय मनुष्य को मार्ग बताता है।

वे दक्षिण दिशा में बढ़ चले। आगे चलकर शूली पर चढ़े एक मनुष्य को देखा और पूछा : “तुम कौन हो ?”

उसने कहा :

“मैं एक व्यापारी हूँ। रत्ना देवी की वासना का शिकार होने से ही मेरी यह दशा हुई है। उसको बात न मानने पर वह यही हाल करती है। तुम अपना कल्याण चाहते हो तो यहाँ से पूर्व दिशा की ओर जाओ। वहाँ एक खण्ड में शैलक यक्ष का यक्षायतन है, वड़ अश्व-रूप में रहता है। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन वह अपने भक्तों से कहता है— किसकी रक्षा करूँ।’ अतः तुम वहाँ जाने से छूट सकते हो।”

सुख की राह बताने वाला कितना प्रिय होता है ! जिनपालित और जिनरक्षित वहाँ जा पहुँचे। यक्ष ने कहा . “तुम मेरी पीठ पर बैठ जाओ। परन्तु ध्यान रखना, तुम जरा भी उसके भय और प्रलोभन में मत फँसना। जरा भी फँसे, कि मरे।”

अश्व-रूप यक्ष उन्हें लेकर चल पड़ा। रत्ना देवी अपने महल में पहुँचते ही सब रहस्य समझ गई। पीछे तलवार लेकर दौड़ी। भय और प्रलोभन दोनों दिए, परन्तु जिनपालित ने उधर ध्यान भी नहीं दिया। जिनरक्षित उनके सौन्दर्य को देखकर और प्रिय वचनों को सुनकर ज्यों ही विमोहित हुआ कि अश्व को पीठ से गिर पड़ा। देवी ने उसे मार डाला। दृढ़ रहने पर जिनपालित अपने घर पहुँच गया।

ज्ञाता अ० ६/●

## देव हारा, मानव जीता !

पुराने युग की यह बात है। उस पुराने युग की, जहाँ इतिहासकार अभी नहीं पहुँचा है। श्रद्धा के नेत्रों से ही जिस युग के प्रकाश को चमक को हम देख सके हैं, आज तक !

वह युग, भगवती मल्ली का युग था। चम्पा नगरी थी, जिसमें धन-श्रेष्ठी रहता था। वह श्रावक था, सत्यासत्य को जानता था। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझता था। जैसा योग्य वह पिता था, वैसा ही दक्ष उसे पुत्र मिला था। नाम था, उसका अर्हन्नक। वह नीति में, रीति में और धर्म में दक्ष था। व्यापार करने में वह कुशल था। और समुद्री व्यापार में भी यशस्वी हो गया था।

एक बार अर्हन्नक समुद्री यात्रा कर रहा था। उसका जल-पोत सागर की तरुण तरंगों पर थिरकता चला जा रहा था। सहसा तूफान आ गया। जहाज हिलने-डुलने लगा।

स्वर्ग की देव-सभा में इन्द्र ने अपने मुख से अर्हन्नक के धर्म-मय जीवन की प्रशंसा की। एक मिथ्यात्वी देव, प्रशंसा को सहन न कर परीक्षा लेने को चला आया। वह पिशाच का भयंकर रूप बनाकर जहाज में आ गया था—यह तूफान उसी का था।

अर्हन्नक निर्भय होकर जहाज में बैठा रहा। मन में दृढ़-संकल्प किया :

“यदि उपसर्ग से बच गया, तो भक्त-पान ग्रहण कर्हूँगा, नहीं तो मेरे चारों आहारों का परित्याग है।” वह अभय होकर मन ही मन भगवान् की स्तुति करने लगा। अभय को भय कहाँ ? वह स्थिर और दृढ़ था। देव अपने प्रयत्न में निष्फल हो गया। देव ने कहा :

“तुझे यथेच्छ धन दूँगा, परन्तु एक बार अपने धर्म को तू छोड़ दे, उसे मिथ्या और असत्य कह दे।” देव ने लोभ की भाषा में कहा। परन्तु अर्हन्नक ने विश्वास के साथ उत्तर दिया :

“कभी नहीं, कभी नहीं ! आप, भले ही मुझे मार डालें ! परन्तु मैं अपने धर्म को कभी असत्य या मिथ्या नहीं कह सकता हूँ। धर्म तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्रियतर है। धन क्षणिक है, धर्म शाश्वत है।” अर्हन्नक के स्वर में दृढ़ता थी।

अन्त में देव हार गया, मानव जीत गया। अर्हन्नक को भय और लोभ—दोनों नहीं जीत सके। देव प्रसन्न होकर बोला :

“मुझे क्षमा करो, अर्हन्नक ! मैंने तुम्हें बड़ा कष्ट दिया। लो, यह कुण्डल की जोड़ी—मैं तुम्हें उपहार देता हूँ।”

अर्हन्नक के इन्कार करने पर भी देव नित्य कुण्डल युगल देकर चला गया था। अर्हन्नक मिथिला में आया, और उसने राजा कुम्भ की राजकुमारी मल्ली के लिए वह उपहार सविनय समर्पित कर दिया। वहाँ बहुत दिनों तक रहकर फिर वह अपने देश को लौटा। साथ में प्रभूत धन संचय करके ले आया था।

अब उसने अपने जीवन की दिशा को बदला। धर्म की आराधना, साधना में बिशेष रस लेने लगा। व्रत, नियम ओर धर्म का पालन करके अर्हन्नक देव-लोक में गया।



## विष हारा, अमृत जीता

भगवान् महावीर का प्रथम वर्षावास जिस ग्राम में था, उसका नाम अस्थिग्राम था । वर्षावास पूरा करके महावीर का श्वेताम्बिका जाने का संकल्प था । मार्ग दो थे—एक सीधा, दूसरा धूमकर । भगवान् सीधे रास्ते से जाने लगे । ग्राम के बाहर गवाले हंस रहे थे । महासाधक महावीर को उन्होंने वन-पथ की ओर जाते देखा तो कहने लगे :

“भिक्षु, इधर जाना ठीक नहीं है । इधर आगे चलकर एक दृष्टि-विष सर्प रहता है, वह भयंकर है । जो भी इधर से गया, वह न आगे जा सका, और न लौट कर आ सका ।”

अभय को भय नहीं होता । इस सत्य को ग्वाल-बाल नहीं आंक सके । मतवाला, मस्त साधक निरन्तर आगे बढ़ता रहा ! आगे ही आगे बढ़ता गया !! चित्त में न भय ! न त्रास ! न आकुलता !

जीवन में जिस अभय, अद्वेष और अखेद का पावन सन्देश लेकर वह साधक चला था, उसका अमृत-पान वह दृष्टि-विष सर्प को भी करा देना चाहता था । चलते-चलते मस्त योगी ने सर्प की बाँबी पर ध्यान लगा दिया था—स्थिर खड़े होकर ।

दृष्टि-विष सर्प के जीवन में आज यह प्रथम अवसर था, जब कि वह एक मानव को अभय रूप में अपनी बाँबी पर खड़े देख

रहा था। मृत्यु से भयभीत मनुष्य ही उसने अभी तक देखे थे, पर आज वह अपने द्वार पर खड़े योगी को विस्मय भरी दृष्टि से देख रहा था। निर्णय नहीं कर सका, यह क्या है? यह कौन है? यह क्यों हो रहा है?

अपना पूरा बल लगाकर सर्पराज ने एक भयंकर फुपकार मारी। किन्तु योगी अब भी अचल, अटल खड़ा था। फिर पूरी शक्ति लगाकर प्रभु-चरणों में तीव्र दंश मारा। योगी फिर भी स्थिर, अडिग ही खड़ा रहा। विष हार चुका था, अमृत मुस्करा रहा था। क्रोध हारा, क्षमा जीत गई!! विषधर पड़ा-पड़ा प्रभु की ओर देख रहा है। नहीं समझा वह—यह क्या और क्यों हो रहा है? भगवान् ने शान्त स्वर में यों कहा :

‘संबुञ्जह, किं न बुञ्जह।’ चण्ड जरा संभल ! देख अपने में अपने को। तू कौन था, क्या हो गया ?

मधुर वाणी का अमृत-पान करके वह मतवाला और मस्त हो गया। अपने आप में वह डूबने लगा। डूबता रहा ! डूबता रहा !! डूबकर ले आया, वह अपने अन्तर जीवन-सागर में से :

“मैं भिक्षु था। शिष्य पर क्रोध किया। क्रोध कितना भयंकर तापकर, और दारुण भाव है।” जाति स्मरण ज्ञान की ज्योति से सारा अतीत प्रकाश से जगमगा उठा !

वह सोच रहा था : “मैं प्रतिबोध को पाया गया हूँ; भंते ! यह आपकी अपार कृपा को पामर कैसे भूलेगा ? आज से जीवन के अन्त तक। क्षमा मेरा धर्म, शान्ति मेरा धर्म, अभय मेरा धर्म ! कुछ भी हो, मैं क्षमा रखूँगा। प्रतिशोध, क्षोभ और रोष बहुत किया—बहुत किया—अब न करूँगा।”

५० : पीयूष घट

लोगों ने पहले उसे मारा भी, पीटा भी। फिर सेवा और पूजा भी की। दुग्ध और घृत की सेवा चण्ड सर्प को उल्टी दारुण हुई। चींटी आकर चिपटने लगीं। वेदना भयंकर होने लगी। फिर भी समता ! शरीर से ममता जा रही थी, समता आ रही थी। जितना क्रोध था, उससे भी बढ़कर क्षमा और शान्ति और वह सर्प से देव बन गया।

नन्दी गा० ७६/●

## शत्रु के लिए शस्त्र

एक बार कृष्ण, बलदेव, सत्यक और दारुक चारों मिलकर वन विहार को गए। वहीं पर सूर्य अस्त हो जाने पर एक वट-वृक्ष के नीचे चारों ठहर गए। सोचा : “विकट वन है, चारों श्रान्त हैं, नींद गहरी आएगी। किसी प्रकार का उपद्रव न हो, इसलिए एक-एक प्रहर तक प्रत्येक जागरण करे, और शेष सोते रहें।” सब सहमत हो गए।

दारुक ने कहा “पहला याम मेरा। आप सब आनन्द से सो जाएँ, मैं प्रहरी हूँ।”

एक पिशाच आकर बोला : “मैं भूखा हूँ। बहुत दिनों से भोजन नहीं मिला। तेरे इन सोए हुए साथियों को मैं खा जाना चाहता हूँ।”

दारुक ने गर्जकर कहा : ‘मेरे बंटे, मेरे साथियों को खा जाना सुगम नहीं है।”

दोनों में युद्ध होने लगा। दारुक का क्रोध जैसे-जैसे बढ़ता रहा, वैसे-वैसे पिशाच का बल भी बढ़ता रहा। दारुण थक चुका था। वह पिशाच को जीत नहीं सका।

दूसरे प्रहर में सत्यक, और तीसरे याम में बलदेव भी उठा। और वे भी अपने साथियों की प्राण-रक्षा के लिए जी-जान से पिशाच के साथ लड़ते रहे। परन्तु पिशाच को एक भी हरा नहीं सका।

चतुर्थ प्रहर में कृष्ण उठा। उसने अपने सामने एक पिशाच को खड़े देखा। पिशाच बोला : “तेरे साथियों को खाने आया है। बहुत काल का भूखा हूँ। आज विधि वशात् यथेच्छ भोजन मिल गया है।”

कृष्ण ने निर्भय होकर कहा : “परन्तु मुझे जीते बिना तेरी इच्छा पूरी न होगी।”

कृष्ण बड़ा चतुर था। वह पिशाच और मनुष्य के बल से भली-भाँति परिचित था। पिशाच युद्ध करने लगा। कृष्ण शान्त भाव से खड़ा कहता रहा : “शाबाश ! तू बड़ा बलवान् है, तू योद्धा है ! तू मल्ल है ! तू बहादुर है !!”

पिशाच का बल क्षीण होने लगा। उसने अनुभव किया, जैसे कोई उसके उसके बल को छीन रहा हो। वह लड़ता-लड़ता थक गया और भूमि पर गिर पड़ा।

प्रभात वेला में दारुक, सत्यक और बलदेव तीनों उठे, कृष्ण ने देखा; सब के सब घायल हो रहे थे !

पूछा : “क्या बात है ?”

## ५२ : पीयूष घट

तीनों ने कहा : “बात क्या है ? यह सब तो वन विहार का पुरस्कार है । रात्रि में पिशाच से युद्ध किया था, तभी तो बच गए—हम सब ?”

कृष्ण ने मुस्कान भरकर कहा : “बन्धुओ, युद्ध तो पिशाच से मैंने भी किया था, पर मैं घायल नहीं हुआ । वह स्वयं ही घायल हुआ पड़ा है ।”

तीनों ने देखा तो वस्तुतः कुछ दूरी पर घायल पिशाच भूमि पर अचेत पड़ा था । तीनों विस्मय के साथ बोले : “यह क्या बात है ?”

“बात कुछ भी नहीं है ! पिशाच के साथ लड़ने की एक कला होती है । वह तुम्हारे पास नहीं थी । मैं पिशाच से लड़ा नहीं, शान्त भाव से खड़ा रहा । वह उछल-कूद मचाता रहा । मैं उसके बल की प्रशंसा करता रहा । प्रशंसा का शस्त्र शत्रु के क्रोध को जीतने का अचूक साधन है । ! क्रोध को जीतने के लिए शान्ति की तलवार चाहिए ।” कृष्ण ने कहा ।

उ० अ० २, गा० ३१/●

## पश्चात्ताप की आग !

जीव की जैसी परिणति होती है, उसका जीवन भी उसी ढांचे में ढलता है। असत्कर्म तो हेय होता ही है, परन्तु सत्कर्म की आसक्ति भी बड़ी भंगकर होती है, जिसको दारुण फल से बिना भोगे छटकारा नहीं मिल पाता।

राजा श्रेणिक की राजधानी राजगृह में श्रमण भगवान् महावीर पधारे। और गुणशीलक उद्यान में विराजित हुए। एक ददुर नाम वाला तेजस्वी देव दर्शन को आया। देव के दिव्य तेज को देखकर, गणधर गौतम ने पूछा : “भंते ददुर को यह अद्भुत तेज कैसे मिला ?”

भगवान् ने मधुर स्वर में कहा : गौतम, एक बार मैं यहाँ पर आया। यहाँ का समृद्ध, सुखी और व्यवहार चतुर मणिकार, नन्द मेरा प्रवचन सुनकर मन्तुष्ट हुआ और उसने श्रावक व्रत स्वीकृत किए। वह धर्म साधना करता रहा। कालान्तर में वह असंयत और आसक्त मनुष्यों के संसर्ग में रहने के कारण धर्म में शिथिल हो गया.....!”

“एक बार ज्येष्ठ मास में उसने निर्जल तेला किया। पौषध-शाला में वह तप करने बैठ तो गया, परन्तु अत्यन्त तृषा एवं अत्यन्त क्षुधा से पीड़ित हुआ और समभाव नहीं रख सका। उसके मन में विचार आया :

“तृषा कितनी भयंकर पीड़ा है। क्यों न मैं लोकहित के लिए राजगृह के बाहर एक सुन्दर पुष्करिणी बना दूँ, जिसका जल पान कर जन, शान्ति और सुख का अनुभव कर सकें।”

अपने विचार को साकार रूप देने में संपन्न व्यक्ति को विलम्ब नहीं लगता। मणिकार नन्द ने एक विशाल एवं विस्तृत पुष्कारिणी तैयार करा ली, जिसके चारों ओर सघन वृक्षों वाले चार वन-खण्ड थे। पूर्व के वन-खण्ड में चित्र शाला, दक्षिण में पाक-शाला, पश्चिम में औषध-शाला और उत्तर में अलंकार-शाला बनवादी। दूर-दूर के यात्री वहाँ आकर सुख पाते थे। चारों ओर नन्द का यश फैल गया। राजगृह के घर-घर में नन्द की प्रशंसा के गीत गाए जाने लगे।

अपनी प्रशंसा और यश को पचाना कोई सरल काम नहीं है। प्रशंसा वह भूख है, जिसकी पूर्ति जीवन भर नहीं हो सकती। मनुष्य इसमें अपनी राह भूल जाता है।

कालान्तर में मणिकार नन्द सोलह महारोगों से पीड़ित हो गया। चिकित्सा कराने पर भी वह स्वस्थ नहीं हो सका। रोग दशा में भी उसका मन पुष्करिणी में अटका हुआ था। अपनी तीव्र आसक्ति के कारण ही वह मरकर स्व-निर्मित पुष्करिणी में मेंढक बन गया। पुष्करिणी में आने-जाने वाले लोगों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर वह गम्भीर विचार करता। उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। अपनी तीव्र आसक्ति के कारण होने वाली दुर्दशा पर उसे पश्चाताप होने लगा।

“एक बार मैं फिर राजगृह में आया। परिवार सहित राजा श्रेणिक वन्दन को आया। मेंढक ने भी जल भरने को और स्नान

करने को आने वाले लोगों से सुना—मैं यहाँ आया हूँ। उसने भी दर्शन और वन्दन का संकल्प किया। मार्ग में फुदकता चल रहा था, कि घोड़े के पैर के नीचे कुचलने से घायल हो गया और चलने की शक्ति न रहने से वहीं से उसने मुझ को भाव-वन्दन कर लिया। उसे अपनी आसक्ति पर बड़ा पश्चाताप था। पश्चाताप की आग में दोष जलकर भस्म हो जाते हैं। वह देह त्याग कर यह दर्दर देव बना है।”

—जाता अ० १३/●

## सत्य असीम है !

यह कहानी उस युग की है, जब वनों में रहकर तापस घोर तपस्या किया करते थे। तापस तपस्वी तो होते ही थे, साथ ही विद्वान् भी होते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य, तापसों तपस्याओं से भरा पड़ा है।

भगवान् महावीर के युग में अम्बड एक प्रसिद्ध तापस था, जिसे कहीं पर परिव्राजक कहा गया, और कहीं पर सन्यासी कहा गया है। अम्बड भगवान् महावीर की साधना से अत्यन्त प्रभावित था। वह भगवान् के प्रति गहरी निष्ठा रखता था। सन्यासी के वेष में रहकर भी उसने भगवान् महावीर से बारह व्रत अंगीकार किए थे। ब्रह्मचर्य-व्रत को वह दृढ़ता से पालता था, और अपने शिष्यों से भी पलवाता था। अम्बड के सात-सौ शिष्य थे, वे भी अपने गुरु जैसी ही साधना करते थे।



## ५६ : पीयूष घट

एक बार वह राजगृही जाने लगा, तो भगवान् से पूछा : "मैं राजगृही जा रहा हूँ, कोई सेवा हो तो कृपा कीजिए ।"

भगवान् ने नाग गाथापति को पत्नी सुलसा को धर्म-सन्देश कहलाया । अम्बड ने सोचा : "सुलसा अपने धर्म में कितनी दृढ़ है ? परीक्षा करके देखूँ !"

उसके अनेक रूप बनाए, भगवान् का रूप भी बनाया, परन्तु सुलसा ने उसे नमस्कार नहीं किया । सुलसा की श्रद्धा से वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ ।

अम्बड ने घोर तपस्या की थी, कठोर साधना की थी, व्रतों की सम्यक् आराधना की थी । इस कारण उसे वैक्रिय लब्धि और अवधि-ज्ञान भी प्राप्त हो गया था । भगवान् महावीर के धर्म में अम्बड को अत्यन्त श्रद्धा थी । जैसी श्रद्धा अम्बड सन्यासी की थी, वैसी ही श्रद्धा उसके सात-सौ शिष्यों की भी थी ।

एक बार अम्बड के सात-सौ शिष्य एक साथ कंपिलपुर से गंगा के किनारे-किनारे पुरिमताल नगर जा रहे थे । भयंकर ग्रीष्म था, भयंकर आतप बढ़ रहा था, आकाश और धरती जल रहे थे । झुलसाने वाली तू चल रही थी । प्यास लगी, कंठ सूखने लगे । गंगा का निर्मल जल बह रहा था, परन्तु बिना किसी गृहस्थ की आज्ञा के वे पानी नहीं पी सकते थे । किसी के आने की प्रतिक्षा करते रहे, परन्तु कोई नहीं आया । शीतल जल तो वे लेते थे, पर आज्ञा बिना कैसे लें ? अस्तेय व्रत का वे इतनी कठोरता पूर्वक पालन करते थे ।

स्थिति विकट होती जा रही थी ! तृषा का वेग चरम सीमा पर पहुँच रहा था !! वे सब के सब भूमि का शोधन करके गंगा की रेत में अनशन करके लेट गए !!! ऊपर से सूर्य तपा रहा था ।

नीचे से रेती जला रही थी !! फिर भी वे शान्त, प्रशान्त और उपज्ञान्त थे !!! अरिहन्त, महावीर को और अम्बड को उन्होंने भाव-वन्दन किया। अपने व्रतों की आलोचना की। जीवन का शोधन कर लिया और काल करके वे ब्रह्मदेव लोक में गए। कालान्तर में अम्बड भी काल करके पाँचवे ब्रह्मलोक में ही गया। धर्म के प्रति कितनी दृढ़ आस्था थी, उनकी !

पाँचवे देवलोक में पहुँचकर अम्बड महाविदेह में दृढ़ प्रतिज्ञ नाम से सिद्ध होगा। सम्पन्न कुल में जन्म लेकर भी और माता-पिता द्वारा भोगों की ओर आकर्षित करने पर भी वह भोगों में लिप्त नहीं होगा। जैसे कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से परिलिप्त नहीं होता, वैसे ही दृढ़ प्रतिज्ञ भी संसार के काम-भोगों में लिप्त नहीं होगा।

संसार का परित्याग करके वह दीक्षित होगा। कठोर साधना से, उग्र तप से, संयम से वह अपनी आत्मा को भावित करेगा। अन्त में एक मास की संलेखना कर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

—उववाई सू०/●

## जो आज पाया था !

भास्कर का भास्वर प्रकाश ज्यों ही धरातल का संस्पर्श करता है, त्यों ही मुकुलित कमल खिल उठते हैं। नभोमण्डल में जब कारे-कजरारे मेघों का गम्भीर गर्जन होता है, तब मयूर अपनी कुहक रोक नहीं सकता है। महापुरुष के पधारने पर भक्त अपने घरों में कैसे बन्द रह सकता है ? उसका मन अपने आराध्य के चरणों में लोट जाने को अधीर हो उठता है।

भगवान् नेमिनाथ द्वारिका नगरी के बाहर उपवन में विराजित हुए। श्रीकृष्ण और महारानी पद्मावती वन्दन करने और धर्म-देशना सुनने के लिए आए। भगवान् की मधुर वाणी के अमृत-पान से परितृप्ति का सुखद अनुभव विरले ही भाग्यवानों को मिलता है। पद्मावती वापस लौट गई। परन्तु श्रीकृष्ण वहीं बैठे रहे। भगवान् से पूछने लगे :

“भंते ! देवलोक के तुल्य इस सुन्दर नगरी द्वारिका का विनाश किसी निमित्त से होने वाला तो नहीं है ?” श्रीकृष्ण, यादव कुमारों को सुरा एवं सुन्दरी के विलास से सशंकित हो चुके थे। समझाने-बुझाने के समस्त प्रयत्न निष्फल हो चुके थे। तीर्थंकर महावीर, श्रीकृष्ण के मन की शंका को जान गए थे।

भगवान् बोले : “कृष्ण ! संसार में एक भी वस्तु शाश्वत नहीं है, आत्मा को छोड़कर ! द्वारिका नगरी का विनाश होने

वाला है और वह विनाश यादव कुमारों द्वारा प्रताड़ित है पायन ऋषि के कोप से होगा।”

बुद्धिमान अपना अपमान सह लेता है, परन्तु अपने ही सामने अपनी कृति की वह अवगणना नहीं देख सकता। श्रीकृष्ण ने अतिस्वर से पूछा :

“क्या मैं भिक्षु बन सकूँगा, भंते !”

“नहीं, कृष्ण !

“भंते ! ऐसा क्यों नहीं होगा ?”

भगवान् ने धीर स्वर से कहा : “आज तक के मानव इतिहास में किसी भी वासुदेव ने प्रव्रज्या नहीं ली, ले भी नहीं सकता, और ले भी नहीं सकेगा। यह संसार का शाश्वत नियम है—कृष्ण !”

मनुष्य के मन में अपने भविष्य की गहरी चिन्ता छिपी रहती है। श्रीकृष्ण ने विनम्र-भाव से फिर पूछा :

“भंते ! यहाँ से जीवन का अन्त हो जाने पर मैं कहाँ और किस रूप में रह सकूँगा ?”

“कृष्ण ! यह सुन्दर द्वारिका जल रही होगी, यहाँ के सुरा और सुन्दरी में भान भूले स्रोग अग्निकुमार की आग में भस्म हो रहे होंगे, तब तुम, बलभद्र और तुम्हारे माता-पिता द्वारिका से निकलकर पाण्डव-मथुरा की ओर जाते-जाते मार्ग में वसुदेव और देवकी के जीवन का अन्त हो जाने पर, कोशाम्बी वन में वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिला पर लेटे हुए तुम्हारे पैर में जराकुमार बाण मारेगा, जिससे तुम्हारे जीवन का अन्त हो जायगा और तुम वहाँ से तीसरी पृथ्वी में जीवन धारण करोगे। बलभद्र, जो

६० : पीयूष घट

तुम्हारे लिए जल लेने जायेगा, वह भी उस समय तुम्हारे पास न होगा।

अपना दुःखद भविष्य सुनकर या जानकर किसको चिन्ता न होगी ? कृष्ण चिन्तातुर हो गए। उनको गहरे चिन्तन में देखकर भगवान् नेमिनाथ ने आशा का संवल देते हुए कहा :

“कृष्ण ! तुम इतनी चिन्ता क्यों करते हो ? तुम्हारा अगला जीवन सुखद और सुन्दर है।”

“यह कैसे भंते !” कृष्ण ने उत्कण्ठा से पूछा।

“कृष्ण ! शतद्वार नगर में एक अन्तिम तीर्थकर होगा। वह तुम ही हो।” भगवान् ने कहा।

अपना उज्ज्वल भविष्य सुनकर कृष्ण हर्ष-विभोर हो गए। प्रमोदमय अभिनय करने लगे। अपनी पूरी शक्ति से उन्होंने सिंहानाद किया। फिर भगवान् को वन्दन करके द्वारिका की ओर चल पड़े। कृष्ण ने जो आज पाया, वह कभी नहीं पाया होगा।

—अन्तकृत अंग-सूत्र, वर्ग ५, अ० १/●

## सेवा का आदर्श !

द्वारका के प्रशस्त राजमार्ग से श्रीकृष्ण अपने गजराज पर बैठकर भगवान् नेमिनाथ के दर्शन और वन्दना को जा रहे थे। साथ में अंग-रक्षक सेना तथा अन्य बहुत विशिष्ट जन भी थे।

राजमार्ग के समीप ही एक वृद्ध पुरुष को देखा : ‘देह से जर्जरित है, हाथ-पैर कांप रहे हैं, चलते-फिरते देह का सन्तुलन भी ठीक नहीं रहता है। फिर भी, वह अपने कंपित हाथों से एक-एक ईंट उठाकर अपने घर के अन्दर ले जा रहा है। वह अपने जीर्ण भवन को फिर से खड़ा करने के प्रयत्न में है।’

श्रीकृष्ण के हृदय को दया-भावना सहयोग के रूप में फूट पड़ी। दीन पर दया करना, हीन को उभारना—महापुरुषों का सहज स्वभाव है। नवनीत, जैसे आग के ताप से पिघल उठता है, वैसे दया-प्रवीण सज्जन हृदय भी दुःखी के दुःख को देखकर पिघल जाता है। दया, सेवा में परिणत हो जाती है। सहानुभूति और सद्भाव, मानवता की आधार-शिला बन जाती है।

श्रीकृष्ण हाथी से नीचे उतरे, अपने अनुचरों को आदेश न देकर स्वयं अपने हाथ से एक ईंट उठाई और वृद्ध के घर के अन्दर डाल दी।

युग-पुरुष जिधर देखने लगता है, उधर हजारों की दृष्टि टिक जाती है। जिधर वह अपने दो डग रखता है, उधर हजारों कदम

६२ : पीयूष घट

चल पड़ते हैं। जिधर एक हाथ बढ़ गया, उधर हजारी हाथ काम करने को बढ़ जाते हैं। श्रीकृष्ण की सेना ने और साथी जनों ने देखते ही देखते वृद्ध की सारी ईंटें अन्दर डाल दीं।

वृद्ध, श्रीकृष्ण की करुणा से प्रभावित था और श्रीकृष्ण उसकी सेवा करके आज अत्यधिक प्रसन्न थे।

—अन्तकृत अंग-सूत्र, वर्ग 3, अ० ८/●

## धनी बनो, धन-लोभी नहीं !

यह कहानी उस युग की है, जबकि राजा श्रेणिक राजगृह में राज्य करता था। राजा श्रेणिक तो प्रजावत्सल था ही, रानी चलना भी कोमल स्वभाव की रानी थी। उसकी अनुभूति व्यापक और विशाल थी।

वर्षा का मौसम था। भादवे की काली अंधियारी रात, और मूसलाधार वर्षा हो रही थी। रानी चलना जाग उठी, और महल के पिछले भाग की खिड़की में जा बैठी। आकाश में विद्युत् जब तब चमकती रहती। विद्युत् के प्रकाश में उसने देखा, वेगवती नदी में से कोई कुछ निकाल रहा है ! फिर जरा ध्यान से देखा, तो ज्ञात कर सकी, कि कोई पुरुष बहते पानी में से लकड़ी निकाल-निकाल कर किनारे डाल रहा है। पुरुष की निर्धनता पर रानी चेतना को गहरी चिन्ता हो आई।

प्रभात बेला में राजन जागे तो रानी ने सबसे पहले रात बीती घटना कह सुनाई, और कहा : आपके राज्य में इतने दुःखी और दरिद्र मनुष्य भी रहते हैं, आश्चर्य है।”

राजा ने रानी को सान्त्वना देते हुए कहा : “मैं इसकी जांच करूँगा और उस व्यक्ति को राज्य-कोष से योग्य सहायता भी दूँगा। राजा के आदेश से बड़ी छान-बीन के बाद उस व्यक्ति को राज-सभा में उपस्थित किया गया।

व्यक्ति ने अपना परिचय देते हुए कहा : “मैं इसी राजगृही नगरी का वासी हूँ। नाम मेरा मम्मण सेठ है। मेरे पास एक बैल तो है, दूसरे बैल की प्राप्ति के लिए इधर-उधर से मेहनत करके धन एकत्रित कर रहा हूँ।”

राजा ने सोचा : “बड़ा गरीब है, यह व्यक्ति। मेरी गोशाला में बहुत-सै-बैल हैं। राज्य सम्पत्ति में प्रजा-जनों का पूरा-पूरा अधिकार है।”

गोशाला के अध्यक्ष को राजा ने आदेश दिया : “इसकी मनपसन्द का एक बैल इसे दे दो।” मम्मण सेठ गोशाला में गया, पर एक भी बैल मन को नहीं भाया।

राजा ने पूछा : “क्यों क्या बात है ?”

मम्मण बोला : “महाराज, मुझे तो मेरी जोड़ी का बैल चाहिए।”

“तुम्हारा बैल कैसा है ?” राजा ने पूछा।

मम्मण ने विनय युक्त शब्दों में कहा : “मेरे घर पर पधारें, महाराज ! क्योंकि वह मेरा बैल यहाँ नहीं आ सकता।

मम्मण सेठ के साथ राजा श्रेणिक उसके घर पहुँचे। बड़ी हवेली थी, पर खसता हालत में। हवेली में प्रवेश करने के बाद मम्मण महाराज को तलघर में ले गया, जहाँ वर्षों से शायद झाड़ू भी नहीं दी गई थी। जैसे-तैसे राजा वहाँ पहुँचा।



## ६४ : पीयूष घट

चारों ओर अंधेरा-ही-अंधेरा । राजा मन में सोचने लगा : “किस पागल के पाले पड़ गया हूँ !”

परन्तु, मम्मण ने ज्यों ही एक वस्तु पर से फटी गुदड़ी उठाई, कि समूचा तलघर प्रकाश से भर गया ।

सेठ ने कहा : ‘ यह है, महाराज मुझ गरीब का बैल !’

राजा ने ध्यान से देखा : “स्वर्ण का बैल है, जिसमें हीरे-पन्ने और माणक्य-मोती जड़े हुए हैं ।”

राजा के विस्मय का पार नहीं रहा । राजा विचारने लगा : “इतनी सम्पत्ति होते हुए भी इतना गरीब बना है, कि भयंकर काल-रात्रि में जाकर नदी के वेग से लकड़ियाँ इकट्ठी करता रहता है ?”

मम्मण सेठ राजा से कहने लगा : राजन् ! यह बैल ६६ करोड़ की लागत का है । मेरी अभिलाषा है, कि इस जोड़ी का दूसरा बैल भी ला सकूँ तो अपने आपको धन्य समझूँगा । इस बुढ़ापे में भी इतना श्रम इसीलिए करता हूँ ।”

राजा श्रेणिक ने एक बार भगवान् महावीर से प्रश्न किया : “भंते ! मम्मण सेठ के पास इतना विपुल धन है, फिर भी सुखी क्यों नहीं ? न स्वयं खाता है, और न दान-पुण्य ही कर सकता है ?”

भगवान् ने कहा : “देवानुप्रिय ! धन दो प्रकार से प्राप्त होता है—पुण्यानुबन्धी पुण्य से, और पापानुबन्धी पुण्य से ।”

जिस धन को पाकर मनुष्य के मन में शुभ-कार्य करने का संकल्प जागे, वह पहला, और जिस धन को पाकर मनुष्य

के मन में शुभ-कार्य करने का संकल्प या विचार न उठे, वह दूसरा ! मम्मण सेठ के पास धन तो बहुत है, पर वह पाप का धन होने से किसी शुभ-कार्य में खर्च नहीं कर सकता। इस प्रकार का धनमोह मनुष्य का पतन करता है। रात-दिन धन में आसक्ति बनी रहने के कारण ऐसा मनुष्य कोई भी शुभ काम करने में सफल नहीं होता।

“गृहस्थ जीवन के लिए धन आवश्यक तो है, पर वह जीवन का साध्य न होकर साधन ही रहना चाहिए। जीवन के लिए धन है, न कि धन के लिए जीवन ! मम्मण सेठ इतना बड़ा धनी होकर भी जीवन भर दुखी रहा और अन्त में नरक में भी गया। धनमोह का यही परिणाम होता है।



## अमात्य की बात !

कोई वस्तु न अपने आप में भली है, और न बुरी। जैसा निमित्त मिलता है; वस्तु वैसी ही बन जाती है। वस्तु मात्र परिणमनशील है।

चम्पा नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। धारिणी रानी थी, अदीनशत्रु राजकुमार था। सुबुद्धि उसके अमात्य का नाम था। वह एक विचारशील श्रावक था और वस्तु के स्वरूप को जानता था।

नगरी के बाह्य एक खाई थी, जिसमें गन्दा पानी भरा था। राजा एक दिन उधर से निकला और उस सड़े जल को देखकर सुबुद्धि से बोला : “यह पानी कितना गन्दा है ?”

अमात्य सुबुद्धि ने विनीत भाव से कहा : “राजन ! यह तो वस्तु का स्वभाव है, कि उसमें परिणमन होता ही रहता है। जो आज अच्छी है, वह कल बुरी हो सकती है, और जो आज बुरी है, वह कल अच्छी बन सकती है।”

राजा ने यह बात सुनकर फिर कहा :

“यह तुम्हारा भ्रम है। जो अच्छा है, वह अच्छा ही रहेगा, और जो बुरा है, वह बुरा ही रहेगा। क्या यह गन्दा पानी भी कभी सुवासित हो सकता है ?”

सुबुद्धि ने यह बात सुनी और अपने मन में रख ली। बुद्धिमान मनुष्य बोलता कम है, और करता अधिक।

अमात्य सुबुद्धि ने खाई का गन्दा पानी मँगाया और शोधन प्रक्रिया से एक सप्ताह भर में उसे शुद्ध, निर्मल और स्वच्छ बना लिया। उसमें सुगन्धित द्रव्य डालकर उसे सुरभित भी बना डाला।

एक बार राजा अपने सहचरों और परिजनों के साथ भोजन कर रहा था। अमात्य ने जल भरने वाले के हाथ वह पानी भेज दिया। जल पीकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए। बोले : “यह पानी बड़ा शीतल, मधुर और सुरभित। कहाँ से आया, और कौन लाया ? यह तो उदक रत्न है।”

दास ने विनम्र होकर कहा : “यह पानी अमात्य सुबुद्धि ने आपके लिए ही भेजा था।”

कालान्तर में राजा ने अमात्य से पूछा : “इतना शीतल और मधुर एवं सुरभित जल कहाँ से आया ?”

सुबुद्धि ने विनीत स्वर में कहा : “यह पानी उसी खाई का है राजन।”

राजा को विश्वास नहीं आया। उसने स्वयं भी उसी प्रक्रिया से जल का शोधन करके देखा तो अमात्य की बात पर विश्वास करना पड़ा।

राजा इस तथ्य को समझ गया, कि वस्तु परिणमनशील है। निमित्त मिलने पर वह भली और बुरी होती रहती है।



## मंथन का मोती !

यह बात आजकल की नहीं, महा भारत-काल की है। द्रोणाचार्य के गुरुकुल में कौरव और पाण्डव अध्ययन के लिए आए थे। कौरवों में दुर्योधन बड़ा था और पाण्डवों में युधिष्ठिर। दुर्योधन बचपन से ही बड़ा अभिमानी एवं क्रोधी था और युधिष्ठिर विनम्र एवं शान्त। युधिष्ठिर, कौरव और पाण्डव दोनों को स्नेह-भरी दृष्टि से देखता था, किन्तु दुर्योधन में यह बात नहीं थी।

शिक्षा आरम्भ हुई। गुरुजी सब को एक-साथ पढ़ाने लगे। पहले दिन सबको वर्णमाला की शिक्षा दी। दूसरे दिन का पाठ था—“सदा सत्य बोलो, क्रोध मत करो।” गुरु ने पाठ दिया, शिष्य याद करने लगे।

यह लो, पाठशाला की छुट्टी हो गई। अन्य राजकुमार खेल-कूद में मस्त हैं। पर, युधिष्ठिर एक ओर बैठा अपना वही पाठ याद कर रहा है—“सदा सत्य बोलो, क्रोध मत करो”, “सदा सत्य बोलो, क्रोध मत करो !” लो, सूर्य देव अस्ताचल पर आ पहुँचे हैं। गुरुकुल के छात्र और अध्यापक सब संध्या करने लगे हैं। युधिष्ठिर भी उठा और स्नान करके संध्या करने लगा।

सारा संसार निद्रा के अन्धकार में डूब गया। आश्रम के रहने वाले अपनी-अपनी कुटियों में सोने चल दिये हैं।

पर, युधिष्ठिर ? युधिष्ठिर तो अपना बही पाठ याद कर रहा है : “सदा सत्य बोलो”, “क्रोध मत करो !” आज युधिष्ठिर को नींद नहीं आ रही है। वह सोचता है : “कल गुरुदेव पूछेंगे पाठ याद हो गया ? तो क्या उत्तर दूँगा ? यह पाठ तो बड़ा कठिन है, यह एक या दो दिन में याद हो सकेगा, नहीं होगा ! यह तो कई वर्षों का पाठ लगता है !”

प्रभात का सुहावना समय है। सूर्य की सुनहली प्रभा स्वर्ण-सी विकीर्ण हो रही है। आश्रम के चारों ओर वृक्षों के चिकने-चिकने कुसुम कोमल किसलयों पर अद्वितीय चमक परिव्याप्त हो रही है। यह लो, पाठशाला में सब छात्र आ पहुँचे हैं।

सम्मुख गुरुदेव विराजमान हैं। वे सब को स्नेह में भीगे नेत्रों से देख रहे हैं। कुछ क्षणों बाद मधुर स्वर में गुरुदेव ने पूछा :

“क्यों ! कल का पाठ याद हो गया ? सरल ही तो था !”

दुर्धन—हाँ, गुरु देव ! याद कर लिया।

कर्ण—भुञ्जे भी याद है।

दुःशासन—मैंने तो कल ही कर लिया था।

भीम—लीजिए, मैं अभी सुनाता हूँ !

भीम की बात पर आचार्य जी मुस्कराये। सब साथी भी हँसने लगे। और गुरु को अपने शिष्यों पर गर्व था।

युधिष्ठिर सिर नीचा किये चुप-चाप बैठा था। वह अपने ध्यान में मग्न था। उसे कुछ पता नहीं, कहां क्या हो रहा है। वह तो अपने उसी पाठ का चिन्तन और मनन कर रहा था। युधिष्ठिर को चुप-चाप बैठा देखकर आचार्य जी ने कहा :

“वत्स, युधिष्ठिर ! तुम चुप क्यों हो ? क्या पाठ याद नहीं है ?”

युधिष्ठिर—हाँ गुरुदेव ! यही सत्य है, मुझे पाठ याद नहीं है ।

आचार्य—हैं, क्या कहा, याद नहीं ! बस, दो वाक्य और वे भी याद नहीं ?

युधिष्ठिर—हाँ गुरुदेव, याद नहीं है ? बहुत परिश्रम किया, पर नहीं हुए ।

आचार्य—इनको कैसे याद हो गये ?

युधिष्ठिर—गुरुदेव, इनकी ये जानें ! मुझे तो याद नहीं हुआ ।

आचार्य जी क्रोधित हो उठे । छड़ी हाथ में ली और युधिष्ठिर को मारने लगे ।

तमाचे और छड़ी—दोनों का प्रयोग हुआ । मारते-मारते युधिष्ठिर का मुँह लाल कर दिया, पर युधिष्ठिर कुछ न बोला । सिर नीचा किए सब कुछ सहता रहा ! सुनता रहा !! उसके अन्य भाई इस छमा पर, सहिष्णुता पर दंग थे !

दुर्योधन सोच रहा था : “यदि इस प्रकार मेरे एक भी तमाचा लगा होता, तो गुरुजी को मजा चखा देता । बताता कि किसो को मारने का क्या परिणाम होता है । हम राजकुमार हैं, फिर हमें मारने वाला यहाँ कौन ?”

एक दिन बाबा भीष्म पितामह बच्चों की देख-रेख के लिए गुरुकुल में आ पहुँचे। सब राजकुमार “बाबा आए, बाबा आए, कहते हुए उनकी प्यार भरी गोद में जा बैठे। पितामह का सब को समान स्नेह मिला। कुशल-मंगल के बाद पितामह ने पूछा :

“क्यों आचार्य जी, सब बच्चे अच्छी तरह पढ़ते हैं न ?”

आचार्य जी—“हाँ, सब ही होनहार हैं। जितना पढ़ाता हूँ, याद कर लेते हैं, पर युधिष्ठिर पढ़ने में मन नहीं लगाता। आज चौथा दिन है, इससे दो वाक्य भी याद नहीं हुए !”

पितामह ने युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए कहा : “वत्स, आचार्य जी क्या कहते हैं ? तुम सबसे बड़े होकर भी ठीक से मन लगाकर नहीं पढ़ते हो। देखो, यह अवस्था तुम्हारे पढ़ने-लिखने की है। विद्या अच्छी ढ़रह पढ़ोगे तो विद्वान बन जाओगे, सब लोग तुम्हारा आदर-सत्कार किया करेंगे। बेटा, संसार में विद्वान की बड़ी कद्र है। समझो, मन लगाकर पढ़ा करो।”

विनम्र भाव से युधिष्ठिर ने कहा : “बाबा जी ! आचार्य जी से पूछ लीजिए, मैंने पाठ का दूसरा हिस्सा ‘क्रोध मत करो’ तो कल सुना दिया है। पर, उसका पहला हिस्सा ‘सदा सत्य बोलो’ अभी याद नहीं हुआ। जब तक मैं अपनी वाणी पर विजय न पा लूँ, तब तक कैसे कहूँ कि पूरा पाठ याद कर लिया ?”

युधिष्ठिर की इस तथ्य भरी वाणी को सुनकर द्रोणाचार्य चौंक उठे। पितामह और आचार्य दोनों गद्-गद् हो गये। उन्हें



## ७२ : पीयूष घट

यह मालूम नहीं था कि युधिष्ठिर कितना विचारशील है। ज्ञानसिन्धु के ऊपर ही ऊपर तैरने वालों की संख्या बहुत है, परन्तु जिसको द्रोणाचार्य जी निबुद्धि समझने की भूल कर रहे थे, वही युधिष्ठिर इस संसार में विद्या से, आचरण से और तप से खूब ही चमका। उसका यह बुद्धि-कौशल देखकर द्रोणाचार्य जी ने कहा था, “भविष्य में यह बालक मेरी समग्र आशाओं को पूरी करेगा। स्वयं चमकेगा और मेरा भी नाम चमका देगा।”

आज विद्यार्थियों में असंख्य दुर्योधन मिल सकते हैं पर, युधिष्ठिर कितने मिलेंगे ?

## निन्दिया जागी ! निन्दिया लगी !!

मनुष्य क्रूर भी है, दयाशील भी है। मनुष्य कठोर भी है, मृदु भी है। मनुष्य में देव से दानव बनने की शक्ति है, तो दानव से वह देव भी बन सकता है। हृदय परिवर्तन हो जाने पर वह अपने को जैसा चाहे बना सकता है !

भरत-क्षेत्र के केकय देश के आधे भाग में श्वेताम्बिका नगरी थी। नगरी से बाहर उत्तर-पूर्व के कोण में मृगबन उद्यान था— सुन्दर, सुरभित और सुखद। नगरी सुन्दर, और वहाँ के लोग समृद्ध थे।

राजा परदेशी वहाँ पर राज्य करता था। रानी का नाम सूर्यकान्ता, और राजकुमार सूर्यकान्त था। परदेशी राजा क्रूर, कठोर, निर्दय और भयंकर था। धर्म क्या है? यह कभी उसने जानने का प्रयत्न ही नहीं किया। प्रजाजन सदा उससे भयभीत रहते थे। पर-दुःख को वह अपना मनो-विनोद समझता था। “देह से भिन्न जीव नहीं है।” यह उसका दृष्टि-कोण बन गया था। अभी तक कोई ऐसा समर्थ पुरुष उसे नहीं मिला था, जो परदेशी राजा के दृष्टि-कोण को बदल सके। प्रजाजन परदेशी को साक्षात् यम और काल समझते थे।

कुणाल देश की राजधानी श्रावस्ती में राजा जितशत्रु राज्य करता था। वह परदेशी का अभिन्न मित्र था। दोनों में प्रगाढ़

प्रेम था। कोई भी सुन्दर वस्तु देखते, तो एक-दूसरे को दिया-लिया करते थे—उपहार के रूप में।

एक बार परदेशी ने अपने बुद्धिमान तथा विश्वस्त मन्त्री चित्त सारथि को श्रावस्ती भेजा—कुछ उपहार देने को तथा वहाँ की राजनीति का अध्ययन करने को। श्रावस्ती में पहुँच कर चिर सारथि ने जितशत्रु राजा को उपहार समर्पित किया और वहाँ रहकर राजनीति का अध्ययन करने लगा।

उस समय वहाँ भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के समर्थ आचार्य केशी श्रमण पधारे थे। चित्त ने भी उनकी कल्याणी वाणी का लाभ लिया। चित्त, केशी श्रमण के प्रवचन सुनकर उनमें डूब गया। उसे रस आया ! उसे अनुभव हुआ—मेरा खोया धन मुझे मिल गया। उसने बारह व्रत अंगीकार किए। लौटते समय चित्त ने केशी श्रमण से श्वेताम्बिका पधारने की प्रार्थना की। केशी श्रमण मौन रहे। चित्त ने दोबारा प्रार्थना की ! तबारा फिर प्रार्थना की !!

केशी श्रमण परदेशी की क्रूरता और अधर्मशीलता से भली-भाँति चिर-परिचित थे। उन्हें अपना भय नहीं था, वे स्वयं अभय थे। परन्तु अपने धर्म और संघ को वहाँ पर अवज्ञा न हो जाए, इसकी उसके मानस में गहरी चिन्ता थी। चित्त, चतुर था, वह मौन के रहस्य को समझता था।

चित्त सारथि विनम्र, पर सतेज स्वर में बोला : “भंते, आप किसी प्रकार का अन्यथा विचार न करें। श्वेताम्बिका अवश्य ही पधारें। वहाँ आपके पधारने पर बहुत बड़ा लाभ होगा—धर्म की महती सेवा होगी ! प्रभावना होगी !”

केशी श्रमण विहार करते-करते श्वेताम्बिका पधार गए और मृगवन में विराजित हुए। प्रजाजन हजारों की संख्या में आकर वाणी का अमृत-पान करने लगे। प्रवचन-शैली, मधुर और आकर्षक थी। प्रतिपादन पद्धति अद्भुत और अनुपम थी।

एक दिन चित्त, अवसर देखकर राजा परदेशी को अश्व परीक्षा के बहाने मृगवन की ओर ले आया। शान्त और श्रान्त होकर चित्त और परदेशी मृगवन में चले गए। वहाँ पर केशी श्रमण जनता को धर्म-देशना सुना रहे थे। राजा ने घृणा भरी दृष्टि से एक बार केशी श्रमण की ओर देखा। परन्तु केशी सामान्य सन्त नहीं थे। वे चार ज्ञान के धर्ता और देश-काल के ज्ञाता थे। उनके संयम और तप का प्रभाव अद्भुत था। चित्त की प्रेरणा से, मुनि के तेज से और अपनी जिज्ञासा से वह केशी श्रमण के चरणों में पहुँच गया। मुनि की धर्म-देशना का उसके मानस पर प्रभाव पड़ा। उसने केशी श्रमण से छः प्रश्न किए थे। तर्क-पूर्ण समाधान पाकर वह प्रसन्न हो गया। उसके जीवन में आज यह चमत्कार था। उसकी चिर-संचित शंकाओं का आज मौलिक समाधान मिल चुका था।

परदेशी के जीवन की दिशा बदल गई। उसने वहीं पर बारह व्रत अंगीकार कर लिए। वह श्रावक बन गया। वह अधर्म से धर्म की ओर, क्रूरता से कोमलता की ओर अपनी प्रगति और विकास करने लगा। वह अभय, अद्वेष और अखेद होकर धर्म की साधना करने लगा। प्रजाजन भी अब उसे श्रद्धा और भक्ति के नेत्रों से देखने लगे थे। परदेशी जितना क्रूर, कठोर और उग्र था, अब उससे भी अधिक दयालु, कोमल और नम्र बन गया था। केशी श्रमण का पधारना सफल हो गया। चित्त की चिर-संचित भावना भी पूरी हुई।

## ७६ : पीयूष घट

अपने पर अनुरक्ति की कमी, और विरक्ति की अधिकता देखकर सूर्यकान्ता रानी के मन में क्षोभ, रोष और प्रतिशोध की आग जलने लगी। अपने भोग-विलास में विघ्न समझ कर वह उबल पड़ी। जब रानी को यह ज्ञात हुआ कि राजा ने अपने राज्य के चार विभाग कर दिए हैं, और अब वे निवृत्त होते जा रहे हैं, तब तो रोष की ज्वालाएँ फूट पड़ीं ! रानी ने भोजन में विष देकर राजा परदेशी को मारने का असफल प्रयत्न किया ओफ...! स्वार्थान्ध व्यक्ति कितना क्रूर हो जाता है ?

परदेशी को विष-दान का पता लगा। वह पौषधशाला में जाकर बैठ गया। जीवन की आलोचना करके संलेखना कर ली। उसके मन में सूर्यकान्ता के प्रति जरा भी द्वेष और रोष नहीं था। वह शान्त, प्रशान्त, उपशान्त था। समाधि-मरण से मरकर वह प्रथम देवलोक के सूर्याभ विमान में सूर्याभ देव बन गया। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

—राय पसेणिय/●

# संन्यासी का द्वन्द



## सुबह का भूला घर न लौटा !

मनुष्य का उत्थान और पतन उसके विचारों और भावनाओं पर निर्भर करता है। सत्य को समझना और समझ कर उसे जीवन में उतारना सुगम नहीं है। सत्य को पाकर भी बहुत-से सत्य पथ से भूल-भटक जाते हैं।

कुण्डलपुर नगर में महाश्रमण महावीर की बड़ी बहिन सुदर्शना रहती थी। जमाली उसका पुत्र था। वह कलाओं में, विद्याओं में तथा धर्म-नीतियों में पारंगत विद्वान था। व्यक्ति की योग्यता कभी छिपी नहीं रहती, जैसे पुष्प की सुगन्ध छिपी नहीं रहती। महावीर की पुत्री प्रियदर्शना के साथ जमाली का शुभ दिवस में विवाह हो गया। विवाह, नर और नारी का एक पवित्र सम्बन्ध है। जमाली और प्रियदर्शना में स्नेह था—वे सुखी थे।

भगवान् महावीर एक बार कुण्डलपुर पधारे। जनता ने अमृतवाणी सुनी। जमाली तो इतना मुग्ध हो गया कि अपनी माता से अनुमति लेकर पाँच-सौ क्षत्रिय कुमारों के साथ प्रव्रजित होकर भगवान् का शिष्य बन गया। प्रियदर्शना के लिए भी अब संसार सूना था। पति का मार्ग, पत्नी का मार्ग है। इस संकल्प से प्रियदर्शना भी एक हजार सहचरियों के साथ भगवान् की शिष्या बन गई। जमाली अपने शिष्य-परिवार के साथ और प्रियदर्शना अपने शिष्या-परिवार के साथ विशाल भारत के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में धर्म-जागरण का सन्देश देने लगे।



कालान्तर में जमाली अनगार विहार करते-करते श्रावस्ती नगरी पहुँचे। नगरी के बाहर तिन्दुक बाग में ठहर गए। मनुष्य का स्वास्थ्य उसके विचारों के साथ, उनके भोजन से भी प्रभावित होता है। रूखा-सूखा भोजन मिलने से उसके शरीर में रोग पैदा हो गया। देह की शक्ति इतनी क्षीण हो चुकी थी कि वे खड़े और बैठे भी नहीं रह सकते थे। देह-बल के बिना अध्यात्म साधना भी रुक जाती है। अपने शिष्यों को जमाली ने आदेश दिया :

“मैं बैठने में अशक्त हूँ, लेटना चाहता हूँ, मेरी शय्या तैयार कर दो।”

शिष्य गुरु के आदेश के पालन में जुट गए। अशक्ति मनुष्य को अधीर बना देती है। एक क्षण के बाद ही जमाली ने पूछा : “शय्या कर दी क्या ?”

शिष्यों ने कहा : “अभी नहीं, अभी तैयार की जा रही है।”

जमाली शिष्यों के इस उत्तर से विचारों के गहरे सागर में उतरते गए उनके मानस में विचारों का तूफान उमड़ पड़ा—

भगवान् महावीर का कथन है : “जो कार्य प्रारम्भ हो चुका है, उसे किया ही समझना चाहिए। परन्तु यह तो प्रत्यक्ष में ही लोक विरुद्ध है।”

जमाली को अपनी सूझ पर गर्व हो आया। शिष्यों से कहा :

“भगवान् महावीर जो कहते हैं, वह ठीक नहीं है। मैं जो कहता हूँ, वह ठीक है। कार्य को समाप्ति—पूर्णता पर ही उसे ‘कृत’ किया हुआ कहा जा सकता है, आरम्भ करते ही ‘कृत’ कहना गलत है।”

स्वस्थ हो जाने पर वह खुलकर अपने विचारों का प्रचार करने लगा। प्रियदर्शना ने भी जमाली के पक्ष को सत्य मानकर भगवान् महावीर के शासन के विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ कर दिया। पिता से पुत्री कितनी दूर भटक गई थी। जमाली के बहुत से शिष्य और प्रियदर्शना की बहुत-सी शिष्याएँ, उनका विरोधी विचार और प्रचार देखकर भगवान् के शासन में चले गए थे।

एक बार प्रियदर्शना ढंक कुम्भकार के यहाँ पर ठहरी। ढंक भगवान् महावीर का परम-भक्त और श्रद्धाशील श्रावक था। प्रियदर्शना ने उसे जमाली के विचार में लाने का प्रयत्न करते हुए कहा : “देवानुप्रिय, भगवान् का मार्ग ठीक नहीं है, जमाली का कथन सत्य है।”

परन्तु ढंक कुम्भकार भगवान् के धर्म में इतना अनुरक्त था कि उसके गले प्रियदर्शना की बात नहीं उतरी। ढंक ने प्रियदर्शना को समझाने का एक सुन्दर उपाय सोचा। जिस समय प्रियदर्शना की शिष्याएँ स्वाध्याय में निरत थी, उस समय ढंक ने एक अंगारा उनकी शाटी पर रख दिया, पता लगते ही प्रियदर्शना ने भर्त्सना के स्वर में कहा : “आर्य यह क्या करते हो? हमारी शाटी जल गई है।”

ढंक ने विनम्र शब्दों में कहा : “पूज्या, आपके मत से आपकी बात ठीक नहीं है! शाटी का अभी एक पल्ला ही जला है पूरी शाटी नहीं। फिर ‘जल गई’ यह वचन प्रयोग आपके मत के प्रतिकूल है।”

बुद्धिमान को संकेत पर्याप्त होता है। अपने मिथ्या विचारों की आलोचना करके प्रियदर्शना ने फिर भगवान् का

८२ : पीयूष घट

शासन स्वीकार किया। प्रियदर्शना के चले जाने पर जमाली को बहुत धक्का लगा। वह श्रावस्ती से चम्पा पहुँचा, भगवान् के समीप जाकर वह बोला : “देवानुप्रिय, जब मैं आपके पास से गया था, तब मैं छद्मस्थ था। अब सर्वज्ञ हूँ, केवली हूँ और जिन हूँ।”

गणधर गीतम ने जो भगवान् के पास ही बैठे थे, जमाली से प्रश्न कर दिया : “यदि आप सर्वज्ञ हैं, तो बताइए कि यह लोक शाश्वत है, या अशाश्वत है ? जीव शाश्वत है, या अशाश्वत है ?” जमाली प्रश्नकर्ता की ज्ञान-गरिमा के सामने हतप्रभ हो गए, कुछ उत्तर न दे सके।

भगवान् शान्त स्वर में बोले : “जमालो, तुम एक छोटे-से प्रश्न का भी समाधान नहीं दे सके; जबकि मेरा एक छोटे-से-छोटा शिष्य भी इसका उत्तर दे सकता है !”

जमाली निरुत्तर होकर वहाँ से लौट गए। बहुत वर्षों तक कठोर चारित्र्य का पालन किया। परन्तु जन-साधारण में अपने मिथ्या विचारों का प्रचार करने से श्रद्धा भ्रष्ट हो गई थी। अतः उनका अन्तिम जीवन सुधर नहीं सका।

—उत्तरा०, अ० ३, नि० गा० १६७/●

## उसकी नाव तिर रही थी !

सुन्दर भोर का सुनहला सूर्य पोलासपुर के राज-प्रासादों पर अपनी कोमल, केशरी किरणें बिखेर रहा था। खगों का मधुर कलरव महलों में मादकता भर रहा था। विजय राजा की रानी श्रीदेवी अपनी दुलार भरी बोली बोल रही थी :

“वत्स, अतिमुक्त ! उठो, जागो। सूर्य की गुलाबी आभा से पोलासपुर की कैसी सुषमा हो गई है ? लो उठो, देखो, देर मत करो—लाल मेरे।”

जीवन का माधुर्य कहाँ है ? जीवन का सौन्दर्य कहाँ है ? एक ही उत्तर है, एक ही समाधान है—शैशव में ! बचपन में !! कितना कोमल, कितना मृदु, और कितना मधुर है—यह शैशव काल ! न यहाँ छल है, न कपट है, न माया है, और न किसी प्रकार का दुराव-छुपाव ही है। सीधी-सरल भाषा में कोमल भावों की अभिव्यक्ति मानो, मुख कमल से सुरभित पराग झर रहा हो।

अतियुक्त राजकुमार है। सुरीली आवाज, मीठा कंठ—मानो कोयल कूक रही है। नगर के बच्चों में हिल-मिलकर खेल रहा है। मुख की गुलाबी आभा, सुन्दर वसन और चमकते-दमकते आभूषण शालीनता के प्रतीक हैं। परन्तु मन में न भेद है, न खेद है। वह खेल रहा है, क्योंकि खेल उसे प्यारा है। बच्चों को खेल में अनन्त आनन्द आता है। न प्यास को परवाह, न भूख की

८४ : पीयूष घट

की चिन्ता । अतियुक्त मतवाला होकर, अपनी मस्ती में झूम रहा है ! कूद रहा है !! खेल रहा है !!!

गणधर गौतम भिक्षा के लिए पोलासपुर में आए हैं । एक घर से निकले, दूसरे में प्रवेश किया, फिर तीसरे में । बच्चों के खेल के मैदान के पास होकर वे धीरे, गम्भीर और मन्द गति से बढ़े चले जा रहे थे । शान्त, दान्त और मन्द मुस्कान से भरा मुख, विशाल भाल, उन्नत मस्तक, चमकते नेत्र, अभय की मंजुल मूर्ति ! अतिमुक्त इस भव्य व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बोला :

“भंते, आपका परिचय ?” अतिमुक्त ने आगे बढ़कर पूछा ।

“मैं एक भिक्षु हूँ । यही मेरा परिचय है ।” गौतम ने मुस्करा कर जवाब दिया ।

“तो, आप घरों में क्यों घूमते हैं ?”

जिज्ञासा भरी दृष्टि से अतिमुक्त गणधर गौतम के मंगलमय मुख की ओर अपलक देख रहा था ।

“भिक्षा के लिए, वत्स !” गौतम ने कहा ।

“अच्छा, भोजन के लिए ! पधारिए मेरे घर, मेरी माता आपको प्रभूत भोजन दे देगी ।” अतिमुक्त के अन्तर जीवन में जो ज्योति जगमगा रही थी, उसी ने भाषा का रूप लेकर यह बात कही थी ।

अतिमुक्त निर्भय था । अपने नन्हें-से हाथ से उसने गणधर गौतम की अंगुली पकड़ ली थी, और अपने साथ अपने घर ले आया । माता देखकर हैरान ! पिता देखकर आश्चर्य में !! पुत्र के चातुर्य पर माता अन्दर-ही-अन्दर विह्वल रही थी । माता से अतिमुक्त ने कहा : ‘माता, इन्हें भिक्षा दीजिए, खूब दीजिए ।

इतना भोजन दीजिए, कि दूसरे घर इन्हें जाना ही न पड़े।” गणधर गौतम अतिमुक्त के सुन्दर संस्कारों से प्रसन्न थे। गौतम ने अपनी मर्यादा से भक्त-पान लिया और लौटने लगे। अतिमुक्त ने समीप होकर पूछा : “आप कहाँ जा रहे हैं !”

“नगर से बाहर श्रीवन में मेरे धर्म गुरु हैं। उनकी सेवा में जा रहा हूँ।” गौतम ने नेह भरे नयनों से देखते हुए कहा।

“अच्छा, आपके भी गुरु हैं? तो चलिए मैं उनके दर्शन करूँगा।” अतिमुक्त परिचित की भाँति साथ में चल रहा था। गौतम ने जैसे वन्दन किया, वैसे ही अतिमुक्त ने भी प्रभु को सभक्ति वन्दन किया। जगमगाती इस बाल-जीवन ज्योति को भगवान् ने मधुर शब्दों में मधुर उपदेश दिया।

“भंते, मैं भी आप जैसा होना चाहता हूँ।” अतिमुक्त ने विश्वास के गम्भीर स्वर में कहा।

अतिमुक्त अपने घर लौटा। पिता से और माता से अपने हृदय की भावना स्पष्ट कह दी। माता हँसी, पिता मुस्कराया। दोनों ने समवेत स्वर में कहा :

“भिक्षु बनना हँसी खेल नहीं है वत्स ! यह असिधारा पर चलना है जलते अंगारों पर बढ़ना है। जीवन में ही मृत्यु का नाम है—भिक्षुत्व ! तुम अभी कुसुम-से कोमल हो।”

“मैंने अपने आपको तोल लिया है, नाप लिया है। अपनी शक्ति को परख लिया है मैं अंगारों पर चल सकता हूँ। शूलों पर बढ़ सकता हूँ। मेरा संकल्प अटल है।” अतिमुक्त के दृढ़ स्वर से माता-पिता कंपित हो गए। अपने पक्ष को सबल करते हुए अतिमुक्त बोल रहा था :

“जो जन्मा है, वह अवश्य ही मरेगा। पर कब और कैसे जीवन का पर्दा गिरता है, यह मैं नहीं जानता।”

“जीव, कर्म के वश वर्ति हो संसार में परिभ्रमण करता है, यह मैं जान चुका हूँ और इस पर विश्वास भी कर चुका हूँ।”

माता-पिता की प्रसन्नता के लिए, मनस्तोष के लिए, अतिमुक्त प्रथम राज्य सिंहासन पर आसीन हुआ। पर अन्तर में लगन थी अतः वह भगवान् के पावन शासन में दीक्षित हो गया।

अब अतिमुक्त साधक बन गया था। संभल-संभल कर वह चलता था। विवेक को साथ रखता था। विचार में गहनता और वाणी में गम्भीरता आना सहज था। परन्तु बाल-सुलभ स्वभाव कभी-कभी दबाने पर भी उभर-उभर आता था।

आकाश, मेघाच्छन्न था। वर्षा होकर ही चुकी थी। स्थविरों के साथ अतिमुक्त श्रमण भी विहार भूमि को निकला। स्थविर इधर-उधर बिखर गए। अतिमुक्त ने देखा कल-कल निनाद करता वर्षा का जल तेज गति से बहा चला जा रहा है। बचपन के संस्कार उभर आए। मिट्टी से पाल बाँधकर जल के प्रवाह को रोका, और अपना पात्र उसमें छोड़ दिया। आनन्द विभोर होकर वह बोल उठा :

“तिर मेरी नैया तिर।” शीतल बयार चल रही थी, अतिमुक्त की नौका थिरक रही थी। प्रकृति हँस रही थी। परन्तु स्थविर यह कैसे सहन कर सकते थे ? अन्तर का रोष उसके मुख पर स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा था। अतिमुक्त अपने जीवन में आज प्रथम बार डरा था, कंपा था, भयभीत हुआ था। “अभय

के पास आकर भी यह भय क्यों ?” यह प्रश्न अन्दर-ही-अन्दर अतिमुक्त को कचोट रहा था ।

स्थविरों के रोष का कारण वह अपने आप में खोज रहा था । जिसने खोजा, वह पा गया । अतिमुक्त अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लगा अपनी मर्यादा का भान उसे हो गया । लघु श्रमण अतिमुक्त के हृदयाकाश में एक गम्भीर गर्जन के साथ विवेक की बिजली कोंध गई । आलोचना के जल से वह पावन बन चुका था ।

भगवान् की परिसेवा में पहुँचकर स्थविरों ने सविनय प्रश्न किया—

“भते, आपका यह लघु साधक अतिमुक्त कितने भवों में मुक्त होगा ?”

“इसी भव में यह मुक्त होगा ।”

भगवान् शान्त स्वर में कहते जा रहे थे :

“स्थविरो ! तुम इसकी हीलना, निन्दना और गर्हणा मत करो । बने जहाँ तक इसकी सेवा करो, भक्ति करो । यह स्वच्छ है, अमल, है, पावन है, विमल है । इस पर क्रोध मत करो, रोष मत करो !”

स्थविर, अपनी-अपनी स्वाध्याय भूमि को लौट गए । भगवान् की वाणी पर उन्हें विश्वास था । अतिमुक्त के उज्ज्वल भविष्य के प्रति उनका आदर बढ़ने लगा था । चर्म देह की सेवा से कितना महान् लाभ है । स्थविर अब कहते थे :

“अतिमुक्त देह से लघु है, पर विचारों से यह महान् है । यह सागर से भी गम्भीर है और हिमगिरि से भी ऊँचा है ।



८८ : पीयूष घट

जिसकी आत्मा निर्मल है, वह पूज्य है, आदरणीय है। साधना की भूमि पर देह की पूजा नहीं, गुणों की पूजा की जाती है।'

लघु साधक अतिमुक्त अब एकाग्र और एकनिष्ठ होकर स्थविरों के पास विनय और भक्ति से ग्यारह अंगों का अध्ययन करने लगा। संयम और तप की कठोर साधना से उसका कमल-सा कोमल देह कुम्हला गया। गुलाबी आभा तेज और ओज में परिणत हो गई थी। गुण संवत्सर की लम्बी साधना से देह क्षीण होने लगा था। फिर भी वह लघु पर महान् साधक मेव, तपोमार्ग पर बढ़ता ही रहा। अन्त में विपुलगिरि पर संलेखना करके अजर, अमर और शाश्वत हो गया ! अतिमुक्त का जीवन एक मधुर काव्य बन गया है !!

—अन्तकृ०, वर्ग ६, अ० १५/●

## क्षमापना का आदर्श !

गणधर गौतम और श्रावक आनन्द दोनों भगवान् के संघ की शोभा थे। दोनों की जीवन-भूमि पर धर्म साकार होकर उतरा था। एक में श्रमण-धर्म का चरम विकास था, दूसरे में श्रावक धर्म का अनुपम निवास, दोनों ही भगवान की कृपा के पात्र थे, प्रियतर थे। गुरु को योग्य शिष्य के जीवन पर पूर्ण विश्वास और सन्तोष था। सन्देह एवं अविश्वास की एक भी काली रेखा नहीं थी !

बाण्ड्यग्राम नगर के बाहर पीषधशाला में धर्म साधना करते-करते आनन्द को अवधि-ज्ञान प्रकट हो गया। गम्भीर और गहरा व्यक्ति सम्पत्ति पाकर बाहर छलकता नहीं। पूर्ण कुम्भ कभी छलकता नहीं और अधूरा कभी बौले बिना रह ही नहीं सकता ! आनन्द ने अपनी इस ऋद्धि का, अपनी इस सिद्धि का किसी के सामने बखान नहीं किया। योग्य व्यक्ति का संयोग मिलने पर अपनी ऋद्धि-सिद्धि को प्रकट करने में कोई दोष भी नहीं होता, बल्कि प्रकट करने में कभी-कभी लाभ भी हो जाता है।

इन्द्रभूति गणधर गौतम बेला-बेला पारणा करते थे। ज्ञान के साथ तप का योग जुड़ जाने पर जीवन तेजोमय हो जाता है। बिना तप का ज्ञान फीका-फीका सा रहता है। उसमें जीवन ज्योति नहीं जगती।

पारणे का दिन था। भगवान् की आज्ञा से गणधर गौतम स्वयं गोचरी को चल पड़े। स्वावलम्बन भिक्षु जीवन में आवश्यक है। बाणियग्राम नगर के घर-घर में पावन चरण पड़ने लगे। जिधर भी डग बढ़ जाते, जिधर भी दृष्टि पड़ जातीं, दाता बाग-बाग होकर निहाल हो जाता। भिक्षु का पात्र मंगलमय होता है, किसी भाग्यशाली के घर ही वह पहुँचता है। भिक्षा लेकर इन्द्रभूति गौतम प्रभु की सेवा में वापिस लौट रहे थे। धीर, गम्भीर और मन्थर गति के साथ।

जन-जन के मुख से जब गौतम ने, श्रावक-आनन्द की तपस्या, साधना और आराधना का श्रद्धामय यशोगान सुना—तो आनन्द से मिलने की अपने मानस-कोष में चिर संचित भावना का त्रे विरोध नहीं कर सके। आनन्द के पास गौतम स्वयं जा पहुँचे।

गणधर गौतम को आया जानकर आनन्द के मन में अपार हर्ष लहराने लगा। शरीर तपस्या से कृश और अशक्त हो चुका था। स्वागत-सत्कार के लिए उठने की प्रबल भावना होने पर भी वह उठ नहीं सका। क्षीण स्वर में बोला : “भंते, उठने की भावना होते हुए भी उठ नहीं सकता। मेरा सविनय सभक्ति वन्दन स्वीकार करें।”

गौतम ने वन्दन स्वीकार किया।

आनन्द ने पूछा—“भंते ! गृहस्थ को अवधि ज्ञान हो सकता है ?”

“हाँ, अवश्य हो सकता है” गणधर गौतम ने कहा।

“तो, भंते, आपकी कृपा से वह मुझे मिला है। पूर्व में, पश्चिम में और दक्षिण में लवण समुद्र में पाँच-पाँच-सौ योजन

तक, उत्तर में चुल्ल हिमवान् पर्वत तक, ऊपर सौधर्म विमान तक और नीचे रत्नप्रभा के लोलुपच्युत नरकवास तक जान सकता हूँ, देख सकता हूँ ।” आनन्द ने अपनी बात कही ।

गणधर गौतम ने शांत्त स्वर में कहा : “आनन्द ! श्रावक या गृहस्थ को अवधि ज्ञान हो तो सकता है, पर इतना लम्बा नहीं, इतने विस्तार वाला नहीं । आनन्द, तुम अपने इस आलोच्य कथन की आलीचना करके जीवन की शुद्धि करो ।”

आनन्द ने विनीत भाव से कहा : “भन्ते, क्या सत्य की भी शुद्धि की जाती है ?”

“हाँ की जाती है ।” गौतम ने कहा ।

“तो, भन्ते, आप भी अपनी शुद्धि करने की कृपा करें ।” नम्र स्वर में आनन्द से कहा ।

गणधर गौतम मौन भाव से वहाँ से चल पड़े । प्रभु के चरणों में उपस्थित होते ही अपने मन में रही शंका की गाँठ खोलकर रख दी और विनय युक्त स्वर में बोले :

“भन्ते, मैं भूल की राह पर हूँ, या आनन्द ?”

भगवान् ने स्पष्ट रूप में कहा : “गौतम भूल की राह पर तुम हो, आनन्द नहीं ! आनन्द का कथन सत्य है । उसमें शंका के लिए जरा भी स्थान नहीं है ।”

साधक सत्य को पाकर क्रुद्ध नहीं हर्षित होता है । गणधर गौतम तत्क्षण ही आनन्द के पास आए और क्षमापना की । गणधर गौतम और श्रावक आनन्द दोनों सरलता और नम्रता के मधुर क्षणों में रहकर एक-दूसरे से क्षमायाचा कर रहे थे ।

## ३२ : पीयूष घट

१४ हजार श्रमणों के अधिनायक गणधर गौतम में कितना महान् विनम्र भाव था ! गौतम के प्रबुद्ध मन में सत्य का कितना आदर था ! कितनी सरलता थी !! कितनी नम्रता थी !!! साधक अपनी भूल को मान-अपमान के गज से नहीं नापता है ।

गौतम के मन में सन्देह था, पर महावीर की वाणी ने उसका समाधान कर दिया, पिपासु की प्यास बुझ गई । इस तरह गणधर गौतम और श्रावक आनन्द के जीवन का यह पावन प्रसंग आज के अभिमानी युग के लिए एक सुन्दर सन्देश है । ●

## काम विजेता स्थूल भद्र !

पाटली पुत्र में नन्द राजा राज्य करता था। शकटाल उसका मन्त्री था। मन्त्री के स्थूल भद्र और श्रियक दो पुत्र थे तथा सेणा, वेणा एवं रेणा आदि प्रभृति सात पुत्रियाँ भी थीं। उनकी स्मरण शक्ति अजब-गजब की थी !

पाटलीपुत्र में वररुचि एक ब्राह्मण था, विद्वान और चतुर भी। वह राजा से बहुत धन लेता था। प्रजा के धन का दुरुपयोग देखकर शकटाल को बड़ा क्लेश होता था। उसने वररुचि को धन देना बन्द कर दिया था। वररुचि ने वैर की गाँठ बाँधली थी। अतः शकटाल को संकट में डालने में वररुचि सफल हो गया। परन्तु श्रियक के हाथ से मरकर शकट ने अपने वंश के विनाश को रोक दिया। नन्द ने श्रियक को मन्त्री बनने को कहा। पर वह माना नहीं। बोला : “स्थूल भद्र मेरा बड़ा भाई है, उसे मन्त्री बना लें।”

स्थूलभद्र कोशा वेश्या के राग में मतवाला और मस्त था। परन्तु पिता की मृत्यु की सूचना से वह प्रबुद्ध हो गया। वैराग्य से भावित होकर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली।

स्थूलभद्र मुनि दीक्षा लेकर ज्ञान-ध्यान में रत रहने लगे। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए स्थूलभद्र अपने गुरु के साथ पाटलिपुत्र पधारे। चातुर्मास का समय नजदीक आ जाने से गुरु ने वहीं पर चतुर्मास कर दिया। तब गुरु के समक्ष आकर चार

मुनियों ने अलग-अलग चातुर्मास करने की आज्ञा माँगी। एक मुनि ने सिंह की गुफा में, दूसरे ने सर्प के बिल पर तीसरे ने कुएँ की मेढ़ पर और स्थूलभद्र मुनि कोशा वेश्या के घर चातुर्मास करने की आज्ञा माँगी।

गुरु ने उन चारों मुनियों को आज्ञा दे दी। सब अपने-अपने इष्ट स्थान पर चले गये। जब स्थूलभद्र मुनि कोशा वेश्या के घर गये तो वह बहुत हर्षित हुई। वह सोचने लगी :

“बहुत समय का बिछड़ा मेरा प्रेमी वापिस मेरे घर आ गया।”

मुनि ने वहाँ ठहराने के लिए वेश्या की आज्ञा माँगी। उसने मुनि को अपनी चित्रशाला में ठहराने की आज्ञा दे दी। इसके पश्चात् श्रृंगार आदि करके वह बहुत हाव-भाव दिखाकर, मुनि को चलित करने की कोशिश करने लगी, किन्तु स्थूलभद्र अब पहले वाले स्थूलभद्र न थे। भोगों को किपाकफल के समान दुखदायी समझकर वे उन्हें ठुकरा चुके थे। उनके रग-रग में वैराग्य घर कर चुका था। इसलिए काया से चलित होना तो दूर; वे मन से भी चलित नहीं हुए। मुनि की निर्विकार मुख मुद्रा को देखकर वेश्या शान्त हो गई। मुनि का धर्मोपदेश वेश्या के हृदय को छू गया और वह जाग गई। उसने भी भोगों को दुःख की खान समझ कर उनको सर्वथा के लिए त्याग दिया और वह श्राविका बन गई।

चातुर्मास समाप्त होने पर सिंहगुफा; सर्पद्वार और कुएँ की मेढ़ पर चातुर्मास करने वाले मुनियों ने आकर गुरु को वन्दन किया गुरु ने “कृत दुष्कराः” कहा, अर्थात् “हे मुनियों ! तुमने दुष्कर कार्य किया है, मेरी आत्मा तुमसे प्रसन्न है।”

जब स्थूलभद्र मुनि आये तो गुरु महाराज एक दम खड़े हो गये, उनकी मुनि की ओर हाथ बढ़ाकर “कृत दुष्कर-दुष्करः” कहा; अर्थात् “हे मुने ! तुमने महान् दुष्कर-दुष्कर कार्य किया है मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ ।”

गुरु की बात सुनकर उन तीनों मुनियों को ईर्ष्याभाव उत्पन्न हुआ । जब दूसरा चातुर्मास आया तब सिंह की गुफा में चातुर्मास करने वाले मुनि ने कोशा वेश्या के घर चातुर्मास करने की आज्ञा माँगी । गुरु ने आज्ञा नहीं दी, फिर भी वह वहाँ चातुर्मास करने के लिए चला गया । वेश्या के रूप लावण्य को देखकर उसका चित्त चलित हो गया । वेश्या धर्मशीला बन गई थी । परन्तु मुनि ने वेश्या से भोग की कामना व्यक्त की ।

वेश्या ने कहा : “मुझे लाख मोहरें दो, तब....!”

“मुनि ने कहा : “हम तो भिक्षुक हैं । हमारे पास धन कहाँ ?”

वेश्या ने कहा : “नेपाल का राजा हर एक साधु को एक रत्न-कम्बल देता है । उसका मूल्य एक लाख मोहर है । इसलिए तुम वहाँ जाओ और एक रत्न-कम्बल लाकर मुझे दो ।

वेश्या की बात सुनकर वह मुनि नेपाल गया । वहाँ के राजा से रत्न-कम्बल लेकर वापिस लौटा । मुनि को जंगल में कुछ चोर मिले । उन्होंने उसका रत्न-कम्बल छीन लिया वह बहुत निराश हुआ । अन्ततः वह पुनः नेपाल गया । अपनी सारी आप बीती कहकर उसने राजा से दूसरे कम्बल की याचना की । अब की बार उसने रत्न-कम्बल को बाँस की लकड़ी में डाल कर छिपा लिया । जंगल में उसे फिर चोर



मिले। उसने कहा : “मैं तो भिक्षुक हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है।

उसके ऐसा कहने से चोर चले गये। मार्ग में भूख-प्यास के अनेकों कष्टों को सहन करते हुए उस मुनि ने बड़ी सावधानी के साथ रत्न-कम्बल उस वेश्या को लाकर दिया। रत्न-कम्बल को लेकर वेश्या ने उसे उसी समय अशुचि में फेंक दिया जिससे वह खराब हो गया। यह देखकर मुनि ने कहा : “तुमने यह क्या किया, इसको यहाँ लाने में मुझे कितने कष्ट उठाने पड़े हैं मालूम है ?”

वेश्या ने कहा : “मुने ! मैंने यह सब कार्य तुम्हें समझाने के लिए किया है। जिस प्रकार अशुचि में पड़ने से यह रत्न-कम्बल खराब हो गया है, इसी प्रकार कामभोग रूपी कीचड़ में फँसकर तुम्हारी आत्मा भी मलिन हो जायगी, पतित हो जायगी। हे मुने, जरा विचार करो ! इन विषय-भोगों को किपाकफल के समान दुःखदायी समझकर तुमने इनको ठुकरा दिया था। अब वमन किये हुए कामभोगों को तुम फिर से स्वीकार करना चाहते हो। वमन किए हुए की बाँछा तो कौए और कुत्ते करते हैं। मुने ! जरा समझो और अपनी आत्मा को सम्हालो।”

वेश्या के मार्मिक उपदेशों को सुनकर मुनि की गिरती हुई आत्मः पुनः संयम में स्थिर हो गई। उन्होंने उसी समय अपने पाप कार्य के लिए—“मिच्छासमि दुक्कडं” दिया और कहा :

स्थूलभद्रः स्थूलभद्रः स एकोऽखिल-साधुषु ।

युक्तं दुष्कर-दुष्करकारको गुरुणा जये ।

अथ त्—सब साधुओं में एक स्थूलभद्र मुनि ही महान् दुष्कर क्रिया के करने वाले हैं। जिस वेश्या के यहाँ बारह वर्ष पहले

रहे उसी की चित्रशाला में चातुर्मास किया । उसने बहुत हाव-भाव पूर्वक भोगों के लिए मनि से प्रार्थना की किन्तु वे किंचित मात्र भी चलित न हुए । ऐसे मुनि के लिए गुरु महाराज ने 'दुष्कर-दुष्कर' शब्द का प्रयोग किया था, वह युक्त था ! उचित था !!”

—नन्दी गा० ७६/●

## अर्जुन की क्षमा साधना !

मगध देश की राजधानी के बाहर सुन्दर फूलों का एक बाग था, जिसमें सुरभित और रंग-बिरंगे फूल हुआ करते थे । अर्जुन मालाकार का यह बगीचा था । उसकी आजोविका का यही एक साधन था । बन्धुमती उसकी पत्नी थी । वह सुन्दर और रूपवती थी । उसके अंग-अंग से यौवन फूट रहा था । पुलकित यौवन युक्त रूपवती को पाकर अर्जुन परम प्रमुदित था ।

बाग के मध्य भाग में यक्ष का एक देवालय था । अर्जुन मालाकार के पूर्वज इसकी आराधना करते चले आ रहे थे । अर्जुन और बन्धुमती भी यक्ष की पूजा करते थे । अर्जुन अभी बाग में फूल चुन रहा था और बन्धुमती यक्षायतन में पूजा करने को आई ।

राजगृही में ललिता नाम की एक गोष्ठी थी, जिसमें स्वच्छन्द, आवारा, क्रूर और व्यभिचारी लोग मिले हुए थे ।

उस गोष्ठी के छह पुरुष आज इधर आ निकले । उन्होंने बन्धुमती को यक्षायतन में प्रवेश करते देखा । मन की प्रसुप्त वासना जाग उठी । अर्जुन को लोह श्रृंखला से बांधकर वे छह पुरुष बन्धुमती के साथ अनार्य कर्म करने लगे ।

पुरुष चाहे कितना हो बलहीन एवं अशक्त क्यों न हो वह अपने सामने ही अपनी पत्नी का अपमान नहीं सह सकता । पुरुष में पुरुषत्व नहीं, यह उस पर वज्र प्रहार की सी चोट होती है । नारी में सौन्दर्य नहीं, यह उसके स्वाभिमान पर खुला आक्रमण ! उन छः व्यक्तियों का कर्म अर्जुन के पुरुषत्व को चुनौती थी !

यक्षायतन में अपनी और अपनी पत्नी की यह दुर्दशा देखकर अर्जुन का मन ग्लानि से भर गया । वह यक्ष को भर्त्सना करते हुए कहने लगा ।

“क्या तेरी भक्ति का यही फल है ! क्या हम तेरी पूजा इसीलिए करते हैं ?”

अर्जुन के इस उपालम्भ से यक्ष ने उसके शरीर में प्रवेश किया । अर्जुन के समस्त बन्धन टूट गए और उसने अपने हाथ में लोह मुद्गर लेकर छहों पुरुषों को और अपनी पत्नी बन्धुमती को मार डाला । लगातार ५ महीने और १३ दिनों तक अर्जुन का यही क्रम रहा । इसी बीच उसने ११४१ मनुष्यों का घात किया । वह अपने आप में बेभान था और हिंसा करना उसका नित्य कर्म बन गया था ।

राजा श्रेणिक के आदेश से नगरी के द्वार बन्द हो गए । आघोषणा कर दी गई, कि—“जिसे अपना जीवन प्रिय हो, वह नगरी के बाहर न निकले !”

भगवान् महावीर के पधारने की सूचना राजा को और नगर की जनता को भी लगी। परन्तु किसी का साहस नहीं हो सका। जीवन का मोह सबको अवरुद्ध किए हुए था।

मेघ की गर्जना होने पर मयूर नाचता है, तो कमल की सुरभि पर भ्रमर गुंजार करता है, तब भगवान् के आने पर भक्त, घर की दीवारों में कैसे बन्द रह सकता है ! माता-पिता आदि सभी के समझाने पर भी सुदर्शन प्रभु के दर्शन-वन्दन को चल ही पड़ा। जीवन की अपेक्षा सुदर्शन को प्रभु के दर्शन अधिक प्रिय थे। अर्जुन का उसे जरा भी भय नहीं था।

अभय होकर सुदर्शन धीरे, मन्द गति से बढ़ रहा था। सहसा काल बनकर अर्जुन सामने आ पहुँचा था ! सुदर्शन ने मन में प्रतिज्ञा की :

“यदि इस संकट से बच गया, तो प्रभु के दर्शन करूँगा नहीं बच सका, तो सागरी संधारा है !”

अर्जुन क्रोध में भरकर आया था। परन्तु सुदर्शन के सामने वह निस्तेज हो गया। शरीर से यक्ष के निकल जाने पर वह निःसत्त्व होकर धरणीतल पर गिर पड़ा। भौतिक बल पर अध्यात्म बल की यही महान् विजय थी ! क्रूर और बलवान् अर्जुन सुदर्शन के सामने दीन और निर्बल बनकर पड़ा हुआ था।

अर्जुन ने सुदर्शन की ओर शान्त नेत्रों से देखते हुए कहा :

“देवानुप्रिय, तुम कौन हो ! कहाँ पर जाना चाहते हो ?”

“मेरा नाम सुदर्शन है। भगवान् महावीर का मैं भक्त हूँ। प्रभु के दर्शन को जा रहा हूँ !” सुदर्शन ने मधुर स्वर में कहा था तभी !

“तो, क्या मैं वहाँ नहीं चल सकता ! क्या मुझे दर्शन का अधिकार नहीं है ?” अर्जुन ने आशा भरी आँखों से सुदर्शन की ओर देखा ।

“क्यों नहीं, अवश्य चल सकते हो ! वहाँ पर किसी का प्रवेश निषिद्ध नहीं है । अपावन भी वहाँ पावन हो जाता है ।” अर्जुन का मन बल्लियों उछल पड़ा, वह कहने लगा :

“अच्छा, बहुत अच्छा ! मैं अपावन हूँ, अब पावन बनने का संकल्प है, मेरा ।” अर्जुन सुदर्शन के साथ चल पड़ा ।

भगवान् ने अर्जुन से कहा : “अर्जुन, सावधान हो जा ! मनुष्य जन्म को सफल कर ले ! अतीत तो बीत चुका है अब भविष्य तेरे हाथ में है ! धर्म में वह शक्ति है, जिससे कल का अपावन आज पावन बन सकता है ! विश्वास बदलते ही विश्व बदल जाता है, वत्स !”

अर्जुन मालाकार भगवान् का शिष्य हो गया । आगार से अणगार बन गया । वह जीवन का नया मोड़ लेकर नयी दिशा में बढ़ने लगा ।

भक्त-पान के लिए अर्जुन भिक्षु, नगर में जाता । पर वहाँ उसे मिलते—पत्थर, डंडों की मार, चांटों की चोट और अपशब्द के तीखे वाण—जो सीधे मन से टकराते ! परन्तु अर्जुन मुनि, शान्त और धीर था । मन में सोचता :

“यह सब तो मेरा अपना किया कर्म है । मेरी क्रूरता से ये सभी पीड़ित थे । मैंने कितनी हिंसा की थी !” अपने अतीत को याद करके अर्जुन मुनि का मानस ग्लानि से भर-भर जाता था ।

छह मास तक लगातार लोगों के ताड़न, तर्जन को अर्जुन ने शान्त भाव से सहन किया। पन्द्रह दिनों की संलेखना करके संयम और तप से आत्मा को भावित किया और अन्त में वह अपावन से पावन बन गया। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया।

—अन्त क० वर्ग ६, अ० ३/●

## ज्योतिर्धर जीवन

मानव जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है। त्याग से जीवन में शान्ति, सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है, जब कि भोगमय जीवन सदा ही अशान्त एवं सतृष्ण रहता है। कुशील एवं हारे मन का मनुष्य साधना में सफल नहीं होता।

द्वारिका नगरी सौराष्ट्र देश की राजधानी थी। उसके समीप रैवतक पर्वत था। उसके पास ही नन्दन बाग था, जिसमें एक सुर प्रिय यक्षायतन था। द्वारिका, कृष्ण महाराज की राजधानी थी। द्वारिका में ही एक भद्रा सार्थवाही रहती थी। उसका एक पुत्र था—थावच्चा। थावच्चा भोगों में निमग्न था।

एक बार अरिष्ट नेमि भगवान् वहाँ पधारे। सुर प्रिय यक्षायतन में विराजित हुए। कृष्ण-देशना सुनने को आए और नगर के प्रजा जन भी। थावच्चा पुत्र ने भगवान् की वाणी सुनकर, माता की आज्ञा लेकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। थेवरों के पास ११ अंग और १४ पूर्वों का अध्ययन किया।

थावच्चा पुत्र अपने शिष्यों सहित विहार करते-करते सेलकपुर नगर में पहुँचे । वहाँ पर सुभूमि भाग उद्यान में विराजित हुए । राजा सेलक, रानी पद्मावती, युवराज मण्डूक और पन्थक प्रभृति ५०० मन्त्री तथा नगर के लोग दर्शन करने एवं धर्म-प्रवचन सुनने को आए । राजा सेलक ने श्रावक व्रत अंगीकार किए । कालान्तर में महामुनि थावच्चा पुत्र भी वहाँ से विहार कर गए ।

उसी युग में एक परिव्राजक था, जिसका नाम शुक था । वह वेद विद्या में पारंगत था और सांख्य दर्शन का मर्मज्ञ ! एक बार परिव्राजक शुक, भूमता-धूमता सौगन्धिका नगरी में आया, वहाँ एक विख्यात सेठ था—सुदर्शन । श्रेष्ठी सुदर्शन ने परिव्राजक शुक से दस धर्म मूलक, पाँच यम, पाँच नियम और दान-धर्म आदि का उपदेश सुना और उसके मत को स्वीकार कर लिया । नगर के दूसरे प्रजा जनों ने भी परिव्राजक के धर्म को स्वीकार किया था ।

कालान्तर में विहार करते-करते अणगार थावच्चा पुत्र भी वहाँ पधारे और नीलाशोक बाग में विराजित हुए । नगर के लोगों ने उपदेश सुना । श्रेष्ठी सुदर्शन भी अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने थावच्चा पुत्र से श्रावक व्रत अंगीकार कर लिए ।

परिव्राजक शुक को यह ज्ञात हुआ, तो वह सुदर्शन के पास गया । परन्तु सुदर्शन ने उसके प्रति विशेष भक्ति प्रदर्शित नहीं की । अपने हजार तापसों को साथ लेकर वह थावच्चा पुत्र अणगार के पास नीलाशोक बाग में गया, विचार चर्चा की । अन्त में वह भी थावच्चा पुत्र का शिष्य हो गया । श्रेष्ठी सुदर्शन को यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई । थावच्चा ने अपने

शासन का भार शुक पर छोड़ दिया और स्वयं पुण्डरीक पर्वत पर चले गए। शेष जीवन वहीं पर व्यतीत किया और अन्त में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

अणगार शुक, विहार करते-करते सेलकपुर पधारे। वहाँ सुभूमि भाग उद्यान में विराजित हुए। सेलकपुर के राजा ने अपने राज्य का भार अपने पुत्र मण्डूक को दिया और स्वयं अपने ५०० मन्त्रियों के साथ प्रव्रजित हो गया। गुरु के पास अध्ययन और तपस्या करके सेलक अणगार भी विहार करते-करते एक बार सेलकपुर में पधारे। मण्डूक ने खूब भक्ति की और रुग्ण दशा देखने योग्य वैद्यों से चिकित्सा कराई। सेलक अपने श्रमणत्व भाव को भूल गया और सुख-सुविधा में मस्त हो गया। दूसरे सभी शिष्य अपने सेलक गुरु को छोड़ गये। सेवा में केवल एक पन्थक ही रह गया। सम्पूर्ण वर्षावास बीत गया। कार्तिक की पूर्णिमा थी। पन्थक ने प्रतिक्रमण किया और अन्त में गुरु से भी क्षमा-याचना की। सेलक का प्रसुप्त मन सजग हो गया। वह कुशील से फिर सुशील हो गया। अन्त में पुण्डरीक पर्वत पर अपना शेष जीवन व्यतीत किया, और थावच्चा की तरह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

—ज्ञाता अ० ५/●



## अपने बल पर अपना निर्माण !

एक बार श्रमण महावीर कुम्मार ग्राम से कुछ दूर संध्या वेलामें ध्यानस्थ खड़े थे। एक गोपाल आया और ध्यानस्थ महावीर से बोला : “रे श्रमण ! जरा देखते रहना मेरे बैल यहाँ चर रहे हैं, मैं अभी लौटकर आया।” दीर्घ तपस्वी महावीर अपनी समाधी में थे।

गोपाल लौटकर आया तो देखा वहाँ बैल नहीं हैं, परन्तु श्रमण ध्यानावस्थि हैं। पूछा : “मेरे बैल कहाँ हैं ?” इधर-उधर देखा भी बहुत। पर बैलों का कुछ भी अता-पता नहीं लगा। वे अपने सहज स्वभाव से चरते-चरते कहीं दूर निकल गये थे।

श्रमण महावीर का कुछ भी उत्तर न पाकर वह क्रोध में भर कर बोला : “धूर्त ! तू श्रमण नहीं है, चोर है !”

गोपाल रस्सी से श्रमण महावीर को मारने के लिए उद्यत होता है, उधर देवराज इन्द्र स्वर्ग से यह सोच कर आते हैं— “कहीं यह अज्ञानी श्रमण महावीर को सताने न लगे।”

यह सोच कर इन्द्र ने ललकार कर गोपाल से कहा : “सावधान ! तू जिसे चोर समझता है, वे राजा सिद्धार्थ के वर्चस्वी राज कुमार वर्धमान हैं। आत्म-साधना के लिए इन्होंने कठोर श्रमणत्व को धारण किया है। दीर्घ तप और कठोर साधना करने के कारण ये महावीर हैं !!”

गोपाल अपने अज्ञान मूलक अपराध की क्षमा माँग कर चला गया। पर इन्द्र ने श्रमण महावीर से कहा : “भंते ! आपका साधना काल लम्बा है। इस प्रकार के उपसर्ग, परीषह और संकट, आगे और भी आ सकते हैं। अतः आपकी परम पवित्र सेवा में ही सतत रहने की कामना करता हूँ। मैं उपसर्गों से आपकी सुरक्षा करूँगा।

गोपाल का विरोध और इन्द्र का अनुरोध महावीर ने सुना तो अवश्य, पर अभी तक वे अपने समाधि भाव में स्थिर थे। समाधि खोलकर बोले :

“इन्द्र ! आज तक के आत्म साधकों के जीवन के इतिहास में न कभी यह हुआ, न कभी यह होगा और न कभी यह हो सकता है—उपसर्गों से कौन बच सकता है ? मुक्ति या, मोक्ष अथवा केवल ज्ञान क्या, दूसरे के बल पर, दूसरे के श्रम पर और दूसरे की सहायता पर कभी प्राप्त किया जा सकता है ?

“आत्म साधक, अपने बल पर, अपने श्रम और अपनी शक्ति पर ही जीवित रहा है और रहेगा। वह अपनी मस्त जिन्दगी का बादशाह होता है, भिखारी नहीं ! वह स्वयं अपना रक्षक है वह किसी का संरक्षित होकर नहीं रह सकता। साधक का केवल्य मोक्ष साधक के आत्म-बल में से ही प्रसूत होता है !”

श्रमण भगवान महावीर के सम्मुख जीवन के दो चित्र थे— गोपाल और इन्द्र। एक विरोधी, दूसरा सेवक ! एक भ्रासक, दूसरा भक्त !! परन्तु भगवान् दोनों को समत्व दृष्टि से देख रहे थे। न गोपाल के अकृत्य के प्रति घृणा और न इन्द्र की भक्ति के प्रति राग ! यह है—समत्व योग की जनोत्थान मूलक साधना !!

## क्रोध पर क्षमा के गीत !

गजसुकुमाल का गुलाबी बचपन महकने लगा, देवकी के महल में ही नहीं, द्वारिका नगरी के घर-घर में, नर और नारी जब कहीं पर भी मिलकर बैठते, वहीं पर गजसुकुमाल के यौवन को, रूप की और लावण्य की चर्चा करते थे। वह मनुष्य नहीं है, देव। क्या रूप है ! क्या यौवन है ! क्या विलास है ! क्या देह कान्ति है ! भला, किसी मनुष्य में इस अद्भुत और अनुपम रूप-सौन्दर्य की सम्भावना हो सकती है ? नहीं-नहीं, कदापि नहीं। गजसुकुमाल सुन्दर है, कुसुम से भी सुकोमल है। “न भूतो, न भविष्यति।”

देवकी का अमित वात्सल्य, वसुदेव का अपार नेह, और कृष्ण का अपरिमित प्रेम गजसुकुमाल को महलों से और विशेषतः द्वारिका से बाहर नहीं जाने देता था। कहीं कोई वैराग्य का निमित्त गजसुकुमाल के दृष्टि-पथ पर न आ जाए—यही शंका सबके मन में चक्कर काट रही थी। क्योंकि जन्म से पूर्व ही गजसुकुमाल के सम्बन्ध में एक देव की भविष्य वाणी थी : “राजकुमार ज्यों ही तरुणाई के मादक मोड़ पर जाएगा, त्यों ही वह भिक्षु बन जायेगा। वह किसी भी मूल्य पर संसार में न रहेगा।”

भगवान् नेमिनाथ सहस्राभ्र वन में पधार चुके थे। नगर में और महल में एक उमंग और उत्साह भर गया था। देवकी

और कृष्ण ने गजसुकुमाल से छिपे-छिपे भगवान् के दर्शन को जाने की तैयारी की । परन्तु गजसुकुमाल के सजग कानों ने वह सुन लिया, जिसे न सुनने देने का आयोजन किया गया था । उसकी चतुर आंखों ने वह देख लिया—जिसे गोप्य रखने का प्रबल प्रयत्न किया गया था । ठीक समय पर, गजसुकुमाल, कृष्ण के पास ही हाथी पर जा बैठा । सजग मनष्य कभी प्रमाद नहीं करता ।

जिस राजमार्ग से कृष्ण की सवारी जा रही थी, उसके समीप ही एक सुन्दर, सुकमल वाला अपनी सहेलियों के साथ कन्दुक खेल रही थी । द्वारिकावासी सोमिल ब्राह्मण की पुत्री सोमा अपने खेल में लीन थी । उसे किसी के आने-जाने का भान नहीं था । परन्तु कृष्ण की दृष्टि सोमा की सुषमा पर टिक गई । गजसुकुमाल के साथ इसका विवाह करेंगे । यही भावना लेकर कृष्ण ने सोमिल से सोमा की मांग की । उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया । “रत्नं समागच्छतु कांचनेन ।”

भगवान् के दर्शन, वन्दन और उपदेश सुनकर कृष्ण लौटे । साथ ही गजसुकुमाल भी लौटा, परन्तु कुछ और रूप में, कुछ और ही धुन में ! गया था, वैभव और विलास के साथ, पर लौटा तो त्याग और वैराग्य की ज्योति के साथ ! गजसुकुमाल ने आते ही अपनी प्रवज्या का प्रस्ताव रख दिया । देवकी और वसुदेव का वात्सल्य, कृष्ण का स्नेह और भावजों का मधुर हास-विलास—ये सब मिलकर भी गजसुकुमाल को रोक नहीं सके क्योंकि त्याग के प्रशस्थ पथ पर अग्रसर होने के लिए उसका मन मचल रहा था !

एक तरुण तपस्वी, जिसने आज ही त्याग पथ पर अपना फौलादी कदम रखा था, वह आज ही जीवन की चरम कोटि को छू लेने की कोशिश में लग गया !

सन्ध्या की गुलाबी आभा, चतुर्दिक में परिव्याप्त थी, दिनकर अदृश्य हो गया था। घने मेघों के आंचल में गायें रंभा रही थीं। वे दौड़ती हुई आगे-पीछे मुड़-मुड़कर अपने प्यारे बछड़ों का प्यारा मुखड़ा देखने को विकल थीं। उनका ममत्व स्तनों में बोझ बन बाहर फूट पड़ना चाहता था। पक्षी आकाश से उतर-उतर कर अपने नीड़ में लौट रहे थे। बच्चे नीड़ से आहर आ-आकर अपनी माँ की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे माँ की ममता पाने को व्याकुल थे।

सोमिल ब्राह्मण ने, जो वन से नगर की ओर जा रहा था। उसने देखा कि मेरा जामाता होने वाला गजसुकुमाल आज मुण्ड होकर तपस्वी बन गया है, श्रमण बन गया है। मेरी कुसुम कोमल बेटी के जीवन के साथ यह खिलवाड़ !

क्रोध मनुष्य को अन्धा बना देता है। सोमिल के मन में क्रोध का तूफान उठा। वह भूत गया, कृष्ण की राजसत्ता को। निर्जन स्थान ने उसे वैर का बदला लेने का अवसर दिया।

पास की तलैया से गीली मिट्टी लेकर ध्यान मुद्रा में खड़े तरुण श्रमण गजसुकुमाल के सिर पर पाल बाँधी। जलती चिता से सोमिल ने उसमें धधकते अंगारे भर दिए। इस क्रूर कर्म को करके वह वहाँ खड़ा नहीं रह सका। मनुष्य के मन का भय ही मनुष्य को खा जाता है।

तरुण तपस्वी का मस्तक जल रहा था। चमड़ी, मज्जा और मांस सभी जल रहे थे। महाभयंकर, महादारुण वेदना हो रही थी। फिर भी वह तरुण योगी अपनी ध्यान मुद्रा से डिगा नहीं। मन के किसी भी भाग में न कहीं पर वैर न कहीं पर विरोध और न कहीं पर प्रतिशोध ! वह मस्त साधक अपनी

मस्ती में मस्त था !! देह और आत्मा के भेद उसके लिए जाने पहचाने हो चुके थे । आत्मा की विभाव परिणति से वह अमर साधक स्वभाव परिणति में रम गया था । सुख और दुःख की सीमाओं को पार करके वह शाश्वत आनन्द की भूमि पर पहुँचा था । जो पाना था, वह पा चुका था—आज ही ! आज का साधक, आज ही अजर, अमर और शाश्वत बन गया ।

गजसुकुमाल और सोमिल आज नहीं हैं । परन्तु दोनों का जीवन आज भी हमें सोचने को, विचारने को बाध्य करता है, कि क्रोध पर क्षमा की यह महान् विजय है ! रोष पर तोष की शानदार जीत ! दानवता पर मानवता का अमर जयघोष ।

उसने सोचा होगा : “यह सब मेरे कृत कर्म का ही फल है । मैं स्वयं करता हूँ । मैं स्वयं भोक्ता हूँ । सोमिल से कभी कर्ज लिया था । आज ब्याज सहित चुका कर हल्का हो रहा हूँ । कौन किसको दुःख देता है । यह सब तो अपने हाथों का ही खेल है । जिन्दगी की जिस बुलन्दी से गजसुकुमाल बोल रहा था, वहाँ सामान्य मनुष्य को पहुँच नहीं, कदापि नहीं है । ऐसे जीवन धन्य-धन्य हैं ।

नेभिप्रभु के चरणों में बैठा कृष्ण पूछ रहा था : “भंते, मेरा ध्राता गजसुकुमाल कहाँ है ? वन्दन करने की भावना है ।”

“वह कृत-कृत्य हो गया है, कृष्ण !” भगवान् ने गम्भीर स्वर में कहा ।

“भंते, क्या एक ही दिवस में उस बाल साधक ने साधना के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लिया ?” कृष्ण ने कातर स्वर में प्रतिप्रश्न किया ।

११० : पीयूष घट

“आत्मा में अनन्त बल है, वत्स ! वह क्या नहीं कर सकता है ?” भगवान् ने धीर स्वर में सम्पूर्ण घटना कह दी ।

कृष्ण विह्वल होकर बोला : “भते, वह अनार्य कौन है ? कहाँ रहता है ? इतना साहस उसका ?” कृष्ण रोष की भाषा में बोल उठा !

“कृष्ण ! तुम उसे नगर में प्रवेश करते ही देख सकोगे । अधीर मत बनो, वत्स !” भगवान् ने कहा ।

नगर जनों से सोमिल ने जब यह सुना कि कृष्ण, भगवान् नेमि को वन्दन करने गए हैं, तो अन्दर-ही-अन्दर एक महा भयानक प्रश्न काँध गया :

“वहाँ वे मेरे पाप को जान लेंगे ।”

सोमिल, भयाक्रान्त होकर वन की ओर भागा जा रहा था, उधर से खिन्न, उदासीन और क्रुद्ध कृष्ण हाथी पर बैठ नगर की ओर आ रहा था । सोमिल ने दूर से कृष्ण के हाथी को देखा तो भयातुर हो, पछाड़ खाकर गिर पड़ा और मर गया !!

कृष्ण ने सोचा : “यही है, वह दुष्ट कर्म करने वाला पापी !” उसके शव को नगर के बाहर फिकवा दिया गया ।

एक दिन द्वारिका महानगरी के घर-घर में गजसुकुमाल के रूप, यौवन और सौन्दर्य की चर्चा थी, और आज नगर के नर-नारी गजसुकुमाल की क्षमा की चर्चा कर-करके दाँतों तले अंगुली दबा रहे थे । श्रद्धा, भक्ति और आदर से वन्दन कर रहे थे ।

गज सुकुमाल मोम से इस्तपात बन गया, कुसुम से कुलिश बन गया, फूलों से हटकर शूलों पर चलते हुए भी अपनी मस्ती में मस्त रहा । सोमिल के क्रूर क्रोध पर गजसुकुमाल के कर्षण भाव, क्षमा के गीत बन—द्वारिका के कण-कण में बिखर गये थे ।

अन्त कृ० र० वर्ग ३, अ० ८/●

## जय घोष, विजय घोष !

वाराणसी नगरी में काश्यप गोत्र वाले दो सहोदर भाई थे—जयघोष और विजय घोष ! दोनों एक साथ जन्मे थे, एक साथ पालित एवं पोषित हुए थे । दोनों में गहरा स्नेह था । दोनों वेद विद्या में पारंगत थे । यजन-याजन और अध्ययन-अध्यापन में प्रवीण थे !

“एक बार जयघोष गंगा-स्नान करने को घर से निकला । मार्ग में चला जा रहा था, कि उसने देखा :

एक साँप ने मेंढक पकड़ रखा है, और साँप को मयूर पकड़ने के प्रयत्न में है । जीवन लीला के इस करुण दृश्य ने जयघोष को अन्तर्मुखी बना दिया, वह सोचने लगा :

“हम अपने से दुर्बल जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं । परन्तु काल का मजबूत पंजा हमें भी पकड़ने को बढ़ा चला आ रहा है ।” जयघोष के मन में विकृत जीवन को संस्कृत जीवन बनाने की भावना जाग्रत हो गई !

जयघोष ब्राह्मण से श्रमण बन गया । साधना से अपनी आत्मा को भावित करने लगा । वह घोर तप करने लगा—वह तपस्वी बन गया ।

इधर विजयघोष वाराणसी में यज्ञ करा रहा था, उधर जयघोष मास खमण के पारने के निमित्त नगरी में आया । घूमता-घूमता विजयघोष की यज्ञशाला में जा पहुँचा । परन्तु



## ११२ : पीयूष घट

ब्राह्मणों ने श्रमण का उपहास किया। जयघोष ने विजयघोष से प्रश्न किए। परन्तु वह उत्तर नहीं दे सका। दोनों भाई दो सिरीं पर खड़े थे। एक त्याग के शिखर पर और दूसरा भोग की विषम भूमि पर !

जयघोष ने विजयघोष को सच्चे यज्ञ का स्वरूप बताते हुए कहा :

“इन्द्रियों का निग्रह और मनोवृत्तियों का निरोध ही सच्चा यज्ञ है। शेष यज्ञों से कल्याण और सुख नहीं मिलता है।

“सच्चा ब्राह्मण वह है, जो सत्य बोलता है, सबसे प्रेम करता है, चोरी नहीं करता, परिग्रह नहीं रखता और वासना पर विजय पाता है।

“जाति से कोई भी ऊँचा-नीचा नहीं होता। जाति जन्म से नहीं, कर्म से बनती है।”

जयघोष की दिव्य-वाणी का प्रभाव विजयघोष पर पड़ा। वह भी श्रमण बन गया। त्याग, तप और साधना में लीन रह कर दोनों ने अपना आत्म-कल्याण कर लिया, और अन्त में सिद्ध और बुद्ध मुक्त बने।

उ० अ० २५/❁

## कटु है यह संसार...!

काकन्दी एक सुन्दर नगरी थी, जिसमें जीवन को सुखमय बनाने की समस्त सामग्री उपलब्ध थी। जितशत्रु राजा का शासन वहाँ सबको प्रियतर था। सार्थवाही भद्रा इसी काकन्दी की रहने वाली थी। भद्रा बुद्धिमती, सुन्दरी तथा व्यवहार-दक्षा थी। उसके पास अपार धन-राशि थी।

पति का अभाव होने पर भी पति की विरासत के रूप में भद्रा की गोद में एक सुन्दर, सुकोमल एवं प्रियदर्शनीय आत्मज था—धन्यकुमार ! भद्रा का यह प्राण था और था जीवित धन ! संसार में माता के लिए पुत्र से बढ़ कर प्रिय एवं इष्ट अन्य कोई वस्तु नहीं है। पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाये, परन्तु माता कभी कुमाता नहीं हो सकती। भद्रा का सर्वस्व धन्यकुमार था। उसका पालन-पोषण और शिक्षण—यही भद्रा की साधना थी, और यही थी भद्रा की मातृ-हृदय सुलभ तपस्या। मातृ-हृदय की सहज माँग है : “अपने जीवन के स्वस्थ क्षणों में अपनी पुत्र वधु का मुख देखना।”

सार्थवाही भद्रा भाग्यशालिनी थी। उसने एक-दो नहीं, बत्तीस-बत्तीस पुत्र-वधुओं का सुन्दर मुख देखा था। उनकी सेवा और भक्ति से वह सत्कारित और सम्मानित भी बनी। धन्यकुमार तो अपनी माता को पूजा कहता ही था। नगर के अन्य लोग भी भद्रा को “माता” इस स्नेह निमज्जित शब्द से सम्बोधित

करते थे। भद्रा के गृहस्थ जीवन का पोत, संसार-सागर की ऊपरी सतह पर आनन्द और मंगल से बहा जा रहा था। धन्यकुमार तो मानव-भवसुलभ भोगों में इतना डूबा था कि उसे सूर्य के उदय-अस्त का भी पता नहीं था।

एक बार महाश्रमण भगवान् महावार काकन्दी नगरी पधारे। धन्यकुमार ने दर्शन एवं वन्दन किया और देशना भी सुनी। वीतराग की वाणी में अद्भुत प्रभाव होता है। पहली बार सुनी देशना से ही धन्यकुमार में हृदय की अनुरक्ति विरक्ति में परिणत हो गई। जो संसार अभी तक प्रिय और मधुर था, वह अब अप्रिय और कटु हो गया! भोग को तन्द्रा से जागकर धन्यकुमार योग के पथ पर चलने को कटिबद्ध हो गया। अपार धन-वैभव का प्रलोभन, बत्तीस पत्नियों का प्रणय-वन्धन और माता की अमिट ममता भी धन्यकुमार को उसके संकल्प से हटा नहीं सकी।

धन्यकुमार जिस दिन श्रमण बना, उसी दिन से उसने बेले-बेले पारणा करने का अभिग्रह स्वीकार किया। पारणा में भी सरस आहार नहीं, नोरस आहार लेने की कठोर प्रतिज्ञा की। जिस भोजन को एक कंगला भिखारी भी लेने में संकोच करे, ऐसे तुच्छ भोजन को धन्य अणगार ग्रहण करता था। कभी आहार मिला तो पाना नहीं, और पानी मिला तो भोजन नहीं। फिर भी धन्य अणगार अपनी मस्ती में मस्त! अपनी साधना में शान्त! अपनी तपस्या में स्थिर! अपने कर्म में सदा सजग! आत्म-साधना में देह सहयोगी रह सके, अनुकूल रह सके, इसीलिए उसे भोजन देना, धन्य अणगार ने तय किया था। सर्प जैसे बिना रगड़ के बिल में जाता है, वैसे ही धन्य अणगार बिना

स्वाद लिए भोजन निगल जाता था। स्वाद जय की यह चरम रेखा थी। संयम तथा तप से अपनी आत्मा को भावित करने के व्रत पर धन्य अणगार अडिग और अचल था। धन्य अणगार अल्प समय की साधना से ही इतनी ऊँचाई पर जा लगा था—जहाँ फूल और शूल में भेद रेखा नहीं थी। अनुकूलता और प्रतिकूलता में पृथक् बुद्धि नहीं थी।

घोर तपस्या से धन्य अणगार का देह क्षीण और कृश बन चुका था। रक्त, मांस और मज्जा—देह में नाममात्र को थी। चर्म से आवृत केवल अस्थिपंजर ही शेष रह गया था। उठते-बैठते, चलते-फिरते, हड्डियों की कड़कड़ाहट होने लगी थी। धन्य अणगार जीवित था। देह-बल से नहीं, आत्म-बल से। वह खड़ा। होता था, देह-बल से नहीं, मनोबल से। वह बोलता था, परन्तु बड़ी कठिनता के साथ। साधक अपने जीवन में भौतिकता से कितना ऊपर उठ सकता है! धन्य अणगार का जीवन आज भी एक चुनौती बनकर साधकों के सामने खड़ा है।

राजा श्रेणिक की राजधानी राजगृही में महाश्रमण भगवान् महावीर पधारे। श्रेणिक दर्शनों को आया। भगवान् से उसने पूछा :

“भंते, आपके साधक शिष्यों में सबसे ऊँचा साधक कौन है। कौन महादुष्कर क्रिया और महानिर्जरा करने वाला है?” बिना किसी लाग-लपेट के प्रभु का स्पष्ट उत्तर था :

“श्रेणिक, साधकों में सबसे ऊँचा साधक और अणगारों में सबसे ऊँचा अणगार और तपस्वियों में सबसे ऊँचा तपस्वी, धन्य अणगार है। वह महादुष्कर क्रिया करने वाला है, महानिर्जरा करने वाला है।”

## ११६ : पीयूष घट

राजा श्रेणिक तुरन्त धन्य अणगार के दर्शन को, वन्दन को मया । गुणी का आदर न करना भी जीवन का एक बड़ा दोष माना जाता है । भगवान् के श्रीमुख से की जाने वाली अपनी प्रशंसा को श्रेणिक से सुनकर भी धन्य अणगार का मन हर्षित और पुलकित नहीं हुआ । प्रशंसा और निन्दा, मान और अपमान, आदर और दुत्कार के झंझावातों से धन्य अणगार का मन अप्रभावित हो चुका था । साधक जीवन के लिए प्रशंसा और सम्मान फिसलन भूमि है, जहाँ फिसलने का हर समय खतरा बना रहता है ।

अन्त में, अनुभवी स्थविरों की देखरेख में धन्य अणगार ने संलेखना को । नवमास का संयम-पर्याय और एक मास की संलेखना करने के बाद धन्य अणगार देह-त्याग कर सर्वार्थ सिद्ध विमान में जा पहुँचा । वहाँ से महाविदेह होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया ।

—अनुत्तरोपपातिक वर्ग, ३, अ० १/●

## सच्चा त्यागी कौन !

गणधर सुधर्मा की देशना से भावितात्मा होकर एक कठियारा ने प्रव्रज्या ग्रहण करने की, भव्य भावना अभिव्यक्त की। वह श्रमण बनकर आत्म-साधना में संलग्न हो गया। तपः साधना में वह सदा अप्रमत्त रहता।

उस कठियारा को भिक्षु बना देख—वहाँ के लोग परस्पर कहते थे : “पेट भरने को भोजन नहीं था, तन ढाँपने को कपड़ा नहीं था और सिर छुपाने को घर नहीं था, इसलिए भिक्षु बन गया। इसने कौन-सा त्याग किया है ? त्यागने को इसके पास था ही क्या ?”

लोकापवाद के भय से अधीर होकर नव भिक्षु ने सुधर्मा से निवेदन किया : “गुरु देव, मुझे यहाँ से अन्यत्र ले चलिए।”

अभय कुमार को जब इस घटना का पता लगा, तो उसने गणधर सुधर्मा से प्रार्थना की : “आप यहाँ से विहार न कीजिए। मैं लोगों की भ्रान्त धारणा का समाधान कर दूँगा।”

अभय कुमार बुद्धिमान् था। कठिन से कठिन समस्या का हल वह कर सकता था। उसने रत्नों की तीन ढेरी जगा लीं, और नगर में उद्घोषणा करा दी, कि अभय कुमार रत्नों का दान करना चाहता है। हजारों लोग एकत्रित हो गए। अभय कुमार ने लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा : “तुम में से जो भी व्यक्ति अग्नि, जल और नारी—इन तीनों का परित्याग करेगा,

उसे ये रत्न राशियाँ मैं दूँगा ।” रत्न-राशि लेने को सभी तैयार थे, पर इनका त्याग करने को कोई भी तैयार नहीं था ।

अभय कुमार की बात सुनकर लोग एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे, और एक-दूसरे से कहने लगे :

“इन तीनों वस्तुओं के बिना जीवन में रत्न राशि का उपयोग ही क्या ? मूल्य ही क्या ? जल तो जीवन ही है, अग्नि के बिना भोजन कैसे बनेगा ! और नारी तो सुखों की खान ही है । नारी के बिना पुरुष का जीवन निष्फल है । गृहिणी से ही तो घर की शोभा है ?”

तब अभय कुमार ने गम्भीर स्वर में कहा : “तुममें से एक भी ऐसा वीर नहीं है, जो इन तीनों वस्तुओं का परित्याग करके रत्नराशि ले सके ? वस्तु छोटी हो या मोटी, उस पर से ममत्व भाव हटाना सरल बात नहीं है । त्याग में, त्याज्य वस्तु के नहत्व का प्राधान्य नहीं, भावना का ही एक मात्र महत्व है ।”

अभय कुमार ने अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा :

“तुम लोग जिसे गरीब, दरिद्र और कंगाल समझते हो, और जिसके सम्बन्ध में कहते हो, इसने कौन-सा त्याग किया है ? इसके पास त्यागने को था ही क्या ? यह तुम्हारी भ्रान्त धारणा है । धन, जन, और परिजन का त्याग ही त्याग नहीं है, बल्कि अपने मनोविकारों का त्याग ही एक मात्र सच्चा त्याग है । तुम में से कौन यह त्यागने को तैयार है ?”

नगर के लोग अपनी भूल को समझ गए और उन्होंने उस दिन से कठियारा भिक्षु का तिरस्कार करना छोड़ दिया । त्याग के वास्तविक अर्थ को जनता ने समझ लिया था ।

—दशवें अ० २, गा० ३ टीका/●

## आत्मा का अपूर्व धन !

ढंढकुडर डरररर कृषुण कर डुतुर डर। डर डुगवरु नरडुनरथ कुर कलुडरणी वरणी सुनकर डुग से वडुखु डु गडर और डुग कुर ओर डुड कलर डर। डर डुगवरु कर शडुषुड डन गडर। अलुड-कल डरु डुर उगुर तडु और कठुओर सरधुनर से ढंढ डुनर डुगवरु कुर शडुषुड-डरवरर डरु डुडसे डुरथड डु गडर।

एक डरर कृषुण नर डुगवरु से डुछर : “डुते, आडुकु १० डुनर शडुषुडु डरु डुडसे उगुर तडुसुवु, डुडसे कठुओर सरधुक और डुडसे अधुक शुरेष्ठ कुररररुवरन कुरन डुर डुर?”

सरुवङु डुरथरुथ वकुतुर डुतुर डुर डुर। डुगवरु नर कडुर : “ढंढ डुनर !” डुगवरु कुर संकुषुडु उतुतर डर।

कृषुण नर शरनुत डुर डुर से डुछर : “डुते, अलुडकल डरु डुर ढंढ डुनर नर कुरन-सुर कठुओर सरधुनर कुर डुर डुर?”

डुगवरु नर कडुर : “कृषुण, उसनर अलरड डुरररषडु कुर डुओत डुरर डुर।”

“ढुवररकुर नगरु डरु डुड डर डुरकुषुड कुर नरकलतर तुर डुरकुषुड नरु डुर डुरलतु। अनुतररडु कुरु कुर डुरडुल उदुड डुरनर कुर कुरररर उसर अलरड डुर अलरड डुतुर और डुरर कडुर लरड डुर डुतुर तुर डुरसलरु कुर डुर डुररकुडर डुर डुर।



“ढंढ मुनि ने एक घोर अभिग्रह कर लिया है कि पर-निमित्त से होने वाले लाभ को मैं ग्रहण नहीं करूँगा ।” ढंढ मुनि के उग्र अभिग्रह को सुनकर कृष्ण के मन में दर्शन और वन्दन की भावना जाग उठी; बोला : भंते, ढंढ मुनि कहाँ पर हैं ?”

भगवान ने कहा : “यहाँ से नगरी को जाते समय जब तुम नगर में प्रवेश करोगे, तब ढंढ मुनि को देख सकोगे ।”

कृष्ण अपने गज पर बैठे जा रहे थे, कि नगरी में प्रवेश करते ही उन्हें ढंढ मुनि के दर्शन हो गए । हाथी से नीचे उतरकर कृष्ण ने ढंढ मुनि को वन्दन किया, सुख शान्ति पूछी । त्याग-भूमि पर पहुँच कर पुत्र, पिता से भी महान् हो सकता है ।

एक सभ्य सेठ ने कृष्ण को वन्दन करते देखा, मन में सोचा “यह मुनि कोई असाधारण है, जिसको हमारी नगरी के सम्राट् भी वन्दन करते हैं ।”

कृष्ण आगे बढ़ गए । ढंढ मुनि उसी सेठ के घर भिक्षा को गए । सेठ ने श्रद्धा और भक्ति के साथ मोदकों का दान दिया । शान्त भाव से ढंढ मुनि भगवान् के चरणों में जा पहुँचे । विनीत भाव से पूछा :

“भंते, क्या मेरा अन्तराय क्षीण हो गया है ? क्या मेरी यह भिक्षा अपनी लब्धि की है ?”

भगवान् ने कहा : “नहीं वत्स, अभी अन्तराय क्षीण नहीं हुआ । तुम्हारी भिक्षा, पर-निमित्त की है । स्व-निमित्त की नहीं है । तुम्हें यह सब कृष्ण वासुदेव के व्यक्तित्व से मिला है । ढंढ मुनि को मन में जरा भी ग्लानि नहीं हुई । हाथ से जाते लाभ

को देखकर मनुष्य को कितनी वेदना होती है ? पर ढंढ मुनि शान्त भाव से सोचने लगा :

“यह मेरा लाभ नहीं है, पर का है । यह भिक्षा कितनी भी मधुर और सरस क्यों न हो, मेरे कल्प की नहीं है ।”

ढंढ मुनि शान्त चित्त से मोदकों को एकान्त स्थान पर विवेक से डाल रहे थे, कि शुद्ध परिणति से केवल-ज्ञान प्रकट हो गया । जो पाना था, वह पा लिया । जो करना था । वह कर लिया ढंढ मुनि कृत-कृत्य हो गया ।

अलाभ को जीतना कितना कठिन काम है । आशा में प्रसन्न रहने वाले संसार में हजारों और लाखों हैं, पर निराशा में भी आशा का दिव्य प्रकाश देखने वाले विरले ही होते हैं ।

उ० अ० २, गा० ३१/●

## भोग से योग की ओर

मिथिला नगरी में राजा नमि राज्य करता था। वह भोगों में संसक्त था। भोगों से हटकर योग पर कभी उसका ध्यान ही नहीं जाता था। दिन-रात भोग-विलास के मादक वातावरण में रहकर नमि अपने आपको भूल-सा गया था। भोगों की चकाचौंध मनुष्य को बेभान कर डालती है। परन्तु अन्ततः भोग का परिणाम रोग होता है।

नमि के देह में दाह ज्वर हो गया। दारुण वेदना से वह अत्यन्त अभिभूत रहने लगा।

एक वैद्य ने बताया, कि “बावना चन्दन का लेप निरन्तर करते रहना चाहिए।”

नमि पर रानियों का अत्यन्त अनुराग था। वैद्य के कहने पर वे स्वयं अपने हाथों से चन्दन घिसने लगीं। एक साथ चन्दन घिसने से हाथ की चूड़ियों से होने वाला शब्द भी राजा नमि को सहन न हो सका। वेदना के क्षणों में प्रिय भी अप्रिय हो जाता है।

राजा ने मन्त्री से कहा :

“यह खन-खनाहट का शब्द मुझे सहन नहीं हो रहा है। यह शब्द कहाँ से हो रहा है, और क्यों हो रहा है ?”

मन्त्री ने नम्र स्वर में कहा :

“यह सब आपकी शान्ति के लिए है। रानियाँ स्वयं अपने हाथों से लेप के लिए चन्दन घिस रही हैं। अतः हाथ की चूड़ियों का यह शब्द है।”

नमि ने विचार किया :

“कभी यह शब्द कितना प्रिय लगता था ! और आज कितना अप्रिय एवं कटु लग रहा है !!

रानियों ने अपने हाथों में सोभाग्य सूचक एक-एक चूड़ी रखकर शेष निकाल दीं, और अपना कार्य चालू रखा। अब महल में मुखरता का स्थान नीरवता ने ले लिया था।

नमि ने उत्सुक होकर पूछा :

“क्या चन्दन घिसा जा चुका ?”

“नहीं, अभी घिसा जा रहा है।” मन्त्री ने कहा।

“तो अब उनका शब्द क्यों नहीं होता है।” राजा का पुनः प्रश्न था।

मन्त्री ने स्थिति स्पष्ट करते हुए रानियों से कहा : “सोभाग्य सूचक एक एक चूड़ी हाथों में रखकर शेष सब चूड़ियाँ निकाल दी हैं। अब अकेली चूड़ी खनके तो किसके साथ खनके ?”

नमि का प्रसुप्त मानस झकझोर उठा ! उसने जागरण की एक अंगड़ाई ली और फिर गहरे विचार सागर में डूब गया। अन्त में वह इस मूल्यवान मोती को पा गया :

“वह कोलाहल, यह अशान्ति, सब अनेकत्व में हैं, एकत्व में तो शान्ति और आनन्द ही है।”

१२४ : पीयूष घट

विचार धारा बदली, एकत्व की साधना करने की भावना बलवती हुई। सोचा “यदि मेरी व्याधि शान्त हो जाए, तो मैं कल ही भिक्षु बन जाऊँगा।”

मनुष्य के संकल्प में महान् बल होता है। नमि का तीव्र दाह ज्वर उपशान्त हो गया। चिन्तन करते करते नमि को पूर्व-जन्म की स्मृति सजग हो उठी।

प्रभात होते ही मिथिला जनपद के विशाल वैभव का परित्याग कर श्रमण बन गए। एकान्त वन-भूमि में आत्म-साधना का महा प्रवाह प्रवाहित होने लगा। इन्द्र ने ब्राह्मण रूप से प्रत्यक्ष में आकर नमि से ज्ञान-चर्चा की और उसके त्याग वैराग्य की परीक्षा ली, नमि सफल हो गया !

उ० अ० ६/●

## कपिल का अन्तर्द्वन्द

तृष्णा को जिसने जीत लिया, उसने सम्पूर्ण विश्व को जीत लिया। तृष्णा और वासना पर विजय पाने वाला कभी क्लेश नहीं पाता और न विद्वान कभी निरादर !

कौशम्बी नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। काश्यप ब्राह्मण उसका पुरोहित था, वह सर्व विद्याओं में पारंगत था, राजा उसका सम्मान करता था। पुरोहित की पत्नी यशा थी और उसके पुत्र का नाम था कपिल। कपिल अभी शिशु ही था कि काश्यप का सहसा निधन हो गया। पति के मरने का यशा को अपार दुःख था। कपिल के पिता का पुरोहित पद एक दूसरे ब्राह्मण को मिला। जब ब्राह्मण अश्व पर बैठकर यशा के घर के आगे से निकलता, तो यशा को बड़ी मनो व्यथा होती। नारी का मन बीते दिनों को याद करके रोने लगता है।

माता के आँसू, पुत्र के जीवन को कभी-कभी मोड़ देते हैं। अपनी माता के प्रेरणा से कपिल श्रोवस्ती नगर में रहने वाले अपने पिता के मित्र, उपाध्याय इन्द्रदत्त के पास अध्ययन को गया। मित्र के पुत्र और मेघावी कपिल ने अध्यापक तथा छात्र सबको अपने विनय और स्नेह-गुण में बाँध लिया। इन्द्रदत्त ने शालिभद्र सेठ के घर पर कपिल के भोजन की व्यवस्था की।

यौवन की उर्वर भूमि पर विकारों के अंकुर फटते देर नहीं लगती। सेठ की दासी और कपिल एक-दूसरे के स्नेह में बँध

गए। दासी सगर्भा हुई। दोनों चिन्ता के सागर में डूब गए। कपिल घबरा गया। नारी स्थिति को संभालने में दक्ष होती है। बोली : “अब चिन्ता करने से क्या ? आप पति और मैं पत्नी ! दोनों को मिलकर गृहस्थ जीवन की गाड़ी खींचनी है।” और दासी कपिल के साथ सुखमय जीवन जीने के मोठे-मीठे स्वप्न देखने लगी ! पर अपना दास्य जीवन और कपिल की निर्धनता भी उसके सामने थी अतः एक क्षण रुक कर फिर विनम्र शब्दों में कपिल से कहा : “प्रियतम यहाँ पर धनदत्त सेठ है। उसके घर जो ब्राह्मण सबसे पहले पहुँचकर दर्शन देता है, वह उसे दो माशा सोना देता है। तुम सबसे हों पहले पहुँच जाओ तो तुम्हें मिल जायगा।”

कपिल मध्य रात्रि में ही उठकर चल पड़ा सेठ के घर। चोर समझकर उसे पकड़ लिया गया और प्रातः राजा की सभा में उपस्थित किया गया। कपिल ने राजा को आप-बीती कह दी। सत्य छुपा नहीं रह सकता। सन्तुष्ट होकर राजा ने कहा : “अच्छा जो चाहो, माँग लो !”

कपिल अशोक वाटिका में विचार करने लगा : क्या माँगू ? दो माशा से क्या होगा ? हजार, लाख, करोड़ माशों से भी क्या होगा ? राज्य ही क्यों न माँग लूँ ?”

वृक्ष से एक जीर्ण पत्र को पड़ते कपिल ने देखा। जीवन की दिशा बदलने को यह एक संकेत था। अपने जीवन की एक रेखा, कपिल के मानस पर खिंच गई। विचार बदल गया, विश्वास बदल गया, जीवन की पगडंडी ही बदल गई।..... जाति-स्मरण ज्ञान हो गया !”

भिखारी कपिल जीवन का सम्राट हो गया । वह भिक्षु बन गया । जिसने अपनी तृष्णा के महागर्त को सन्तोष से भर दिया उसका आदर कौन नहीं करता ? राजा ने श्रमण कपिल को नमस्कार किया ।

बन्दी जीवन बिताने वाले पाँच-सौ चोरों को प्रतिबोध देकर कपिल ने उनके जीवन में भी त्याग की ज्योति जला दी । छह मास की कठोर साधना से केवल ज्ञान का महाप्रकाश मिल गया । कपिल केवली भगवान् बन गया ।

लोभ, तृष्णा, कामना और वासना को जीतने वाला साधक प्रकाश के महापथ पर चलता है और दूसरों को चलने की भी प्रेरणा देता है ।

उ० अ० ८, नि० गा० २५६/●



## प्रकाश से अंधकार में

प्रकाश मनुष्य को सहज ही प्रिय होता है, और अंधकार अप्रिय होता है। प्रकाश जीवन है, और अंधकार मृत्यु है।

एक भूगर्भ शास्त्री किसी पर्वत की अंधकार पूर्ण गुफा में धातुशोध करने के लिए गया। अपने साथ तैल पूर्ण दीपक भी वह प्रकाश के लिए ले गया था। अन्यथा उस घोर अंधेरे में उसे मार्ग ही नहीं मिलता, और धातुओं का अनुसन्धान करना भी असम्भव हो जाता।

वह दीपक के प्रकाश में पर्वत की गहन गुफा में अन्दर ही अन्दर बढ़ता गया। दुर्भाग्यवश उसे एक पत्थर की ठोकर लगी, दीपक हाथ से दूर जाकर पड़ा। चारों ओर अंधकार हो गया। मार्ग भी अन्धकारमय हो गया। मार्ग भी अब नहीं सूझता था। घोर अंधकार में वह इधर-उधर भटकता फिरता रहा। अंधकार मनुष्य के लिए अभिशाप है।

एक सर्प पर उसका पैर पड़ा, सर्प विषधर था। वह भूगर्भ-वेत्ता वहीं मर गया। उसके सब संकल्प धरे ही रह गए।

संसार भी एक पर्वत है। मनुष्य भव गुफा है। सम्यक्त्व दीपक है। शंकाकांक्षा की ठोकर से वह बुझ जाता है, जिससे मिथ्यात्व का अंधकार सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। फिर विषय का विषधर जीवन को डस लेता है।

उत्तरा०, अ० ४, गा० ५ ●

**भूले-भटके राही**

जीवन के अविराम समर में,  
कभी हार है जीत कभी ।  
कभी पराजय का रोना है,  
गाना जय के गीत कभी ॥

× × ×

फूल न उठना विजय-गर्व से,  
दुखी न होना खाकर हार ।  
उठकर गिरना गिर कर उठना,  
है यह जीवन का व्यापार ॥

## आर्द्रक कुमार

जीवन में कभी उत्थान, कभी पतन। विचार का स्थान विकार ने लिया, कि पतन तैयार। विकार को हटाकर विचार आया, कि उत्थान। साधक जीवन का लक्ष्य है—पतन से उत्थान की ओर सजग होकर बढ़ना।

समुद्र के मध्य में स्थित आर्द्रकपुर एक नगर था। आर्द्रक वहाँ का राजा था, आर्द्रका रानी, तथा आर्द्रक कुमार वहाँ का राजकुमार था। श्रेणिक में और आर्द्रक राजा में परस्पर प्रभूत प्रेम था। अभय कुमार और आर्द्रक कुमार में भी परस्पर अत्यन्त स्नेह-सद्भाव था। प्रेम में अपार शक्ति है।

एक बार अभय कुमार ने आर्द्रक कुमार के लिए कतिपय सुन्दर उपहार भेजे, जो धर्म-साधना के उपकरण थे। उन्हें देखकर आर्द्रक कुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ। विचार करते-करते उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया।

भारत आने की पिता से अनुमति मांगी, परन्तु सफलता नहीं मिली। राजकुमार कभी चला न जाए, इसलिए पाँच-सौ अंग-रक्षक तैनात कर दिए गए। किन्तु किसी प्रकार आर्द्रक कुमार वहाँ से निकलने में सफल हो गया। आर्य-भूमि भारत में आते ही उसने स्वयं दीक्षा ले ली।

एक बार घूमता-घूमता आर्द्रक मुनि वसन्तपुर में आया। नगर के बाहर किसी श्रेष्ठी के बाग में ध्यान-मुद्रा में स्थित हो गया।

श्रेष्ठी कन्या अपनी सहेलियों के साथ बाग में आकर खेलने लगी। सहसा मुनि को ध्यानस्थ देखा। मुनि के रूप, यौवन और सौन्दर्य पर वह मुग्ध हो गयी। वह खेल को भूल गयी, और मुनि की ओर अपलक देखती रही।

मुनि आत्मा का ध्यान कर रहा था, और श्रेष्ठी कुमारी मुनि के सौन्दर्य का ध्यान करने लगी। उसने अपने मन में संकल्प कर लिया—

“विवाह मेरा यदि होगा, तो इस मुनि के साथ। अन्यथा, मैं कुमारी होकर ही रहूँगी।”

संस्कार प्रबल होते हैं। जीवन क्या है? संस्कार-संचय। आर्द्रक मुनि संस्कार-वश श्रेष्ठी कुमारी के स्नेह-पाश में आबद्ध हो गया। श्रेष्ठी कुमारी अपने मनोरथ की पूर्ति पर प्रसन्न थी। मनोरथ की पूर्ति से जीवन हरा-भरा हो जाता है। संसार-सागर की चंचल तरंगों पर—दोनों प्रबाहित होने लगे।

कालान्तर में आर्द्रक को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। वह फिर से साधना मार्ग की ओर बढ़ने के लिए प्रयत्न करने लगा। परन्तु पुत्र-प्रेम ने बारह वर्षों के लिए बांध कर संसार में रखा।

एक बार श्रीमती आर्द्रक चरखा लेकर कातने लगी। खेलकर आए पुत्र ने पूछा—“अम्ब, आज यह क्या कर रही हो?”

“वत्स, तेरे पिता मुझे और तुझे छोड़कर जाने को तैयार हैं। पेट भरने के लिए सूत कात रही हूँ। यह गरीबों की निर्दोष आजीविका है—वत्स!” श्रीमती ने दुलार भरे आर्द्र-कण्ठ से कहा।

“अम्ब, तुम चिन्ता मत करो! मैं अभी उपाय कर देता हूँ, जिससे पिताजी नहीं जा सकेंगे।” उसने कच्चा सूत लेकर

प्रसुप्त पिता के पैरों में बारह अंटे लगा दिए। पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर आर्द्रक बारह वर्षों तक फिर संसार में संसक्त रहा।

वासना के संघर्ष में पराजित आर्द्रक फिर से अपने विकारों से युद्ध करने को तैयार हो गया। जिस मार्ग से हटा था, फिर उस पर दृढ़ता से बढ़ने लगा।

एक बार वह वसन्तपुर से राजगृही जा रहा था। मार्ग में गोशालक से वाद किया, तापसों से वाद किया। अपने पैने तकों से उन्हें परास्त किया। वह राजगृही जा पहुँचा। अभय कुमार ने आर्द्रक मुनि को बहुमानपूर्वक वन्दन किया, नमस्कार किया।

—सूत्रकृतांग चूर्ण/●

## अमात्य तेतलि पुत्र

धर्म की साधना आत्म-कल्याण के लिए ही करनी चाहिए । भय और लोभ के वशीभूत होकर नहीं । अधर्म से पराङ्मुख और धर्म के अभिमुख होना, कोई आसान काम नहीं है ।

तेतलिपुर नगर में कनक-रथ राजा, पद्मावती रानी और तेतलिपुत्र अमात्य रहता था । इसी नगर में मूषिकार दारक एक स्वर्णकार था । उसकी पत्नी भद्रा थी, और पुत्री पोट्टिला थी, जो रूपवती एवं बुद्धिमती थी ।

एक बार पोट्टिला अपने मकान की छत पर बैठी थी, कि उधर से निकलते अमात्य तेतलि पुत्र की दृष्टि उसके रूप में उलझ गयी । अमात्य ने पोट्टिला के पिता से उसकी मांग की और वह तैयार हो गया । योग्य वर मिलना बड़ा कठिन है । पोट्टिला का विवाह तेतलि पुत्र के साथ हो गया ।

राजा कनक-रथ की अपने राज्य में बड़ी ही आसक्ति थी । वह अपने जन्मते ही पुत्र का अंगच्छेदन कर देता था, जिससे वह राज्य योग्य न हो । रानी इस क्रूरता से व्याकुल थी । पर राजा से कुछ कहने का उसे साहस नहीं होता था ।

संयोगवश रानी और पोट्टिला दोनों एक काल में सगर्भा हुईं । रानी ने अमात्य को अपना विचार पहले ही व्यक्त कर दिया था । रानी के पुत्र हुआ, और पोट्टिला के मृत पुत्री ।

अमात्य तेतलि ने मृत पुत्री रानी के पास रख दी, और राजकुमार को पोट्टिला के पास रख दिया। राजा को पुत्र जन्म का पता लगते ही वह तलवार लेकर आया। परन्तु मालूम हुआ कि रानी के मृत पुत्री हुई है, वह लौट गया। अमात्य ने राजकुमार का नाम रखा—कनक ध्वज।

कालान्तर में तेतलि पुत्र का पोट्टिला के प्रति स्नेह मन्द हो गया। प्रयत्न करने पर भी वह अमात्य को अपने घर पर अनुरक्त नहीं कर सकी। अपने नगर में आने वाली बहुश्रुता सुव्रता आर्या से भी पोट्टिला ने भक्ति करके यह पूछा—“कोई मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, औषधि टोना-टाभण या ऐसा वशीकरण बताइए, जिससे मैं अपने पति को अनुरक्त कर सकूँ।”

आर्या सुव्रता ने शान्त भाव से कहा—“भद्रे, हम श्रमणी है। धर्म सुनने की इच्छा हो, तो सुना सकती हैं। परन्तु चरित्र विरुद्ध बात हम अपने कानों से सुनना भी पसन्द नहीं करती हैं।” सुव्रता की वाणी का पोट्टिला के चित्त पर गहरा असर पड़ा। वह प्रव्रजा लेने को तैयार हो गयी। तेतलि पुत्र से अनुमति लेने की भावना से आकर बोल।

“मेरा यह संकल्प है।” अमात्य ने कहा—“मैं अनुमति दे सकता हूँ। परन्तु इस शर्त पर कि देवता बनकर तू मुझे प्रतिबोध देने जाना।” पोट्टिला ने बात मान ली पोट्टिला साधवी होकर अल्पकाल में ही साधना करके देव बनी।

राजा कनक रथ के अवसान हो जाने पर तेतलि ने कनक ध्वज को राजा बनाया। कनक ध्वज तेतलि को अपने पिता के तुल्य समझता था। कुलीन व्यक्ति अपने उपकार करने वाले को सदा आदर देता है।



## १३६ : पीयूष घट

पोटिटला देव बनकर अनेक बार तेतलि को समझाने आई । परन्तु वह नहीं चेता । देवी शक्ति से प्रभावित कनक ध्वज ने तेतलि का अपमान कर दिया । इस आघात को अमात्य नहीं सह सका । आदर जीवन है, और अनादर मरण ।

अमात्य तेतलि पुत्र ने अब राज्य में न रहने का बलवान् संकल्प कर लिया । चिन्तन करते-करते जाति-स्मरण ज्ञान हुआ । प्रव्रजित होकर उग्र साधना की ।

जीवन का मार्ग सम नहीं, विषम है । कभी चढ़ाव तो कभी ढलाव भी । परन्तु जो सजग होकर चमता है' उसे किसी प्रकार का भय नहीं ।

—जातासूत्र

## रोहिणेय चोर

प्राचीन समय की बात है। राजगृह नगरी में रोहिणेय नाम का एक चोर रहता था। वह चोरी करने में बड़ा ही कुशल था, और वह किसी की पकड़ में भी न आता था। रोहिणेय का पिता मरते समय उससे कह गया था—

“बेटा ! देखो, एक बात याद रखना कि जहाँ पर कोई साधु-सन्त उपदेश देते हों, वहाँ भूलकर भी मत जाना।”

एक बार की बात है। राजगृह में श्रमण भगवान् महावीर का समवसरण लगा। सब लोग उनका उपदेश सुनने गए। संयोगवश रोहिणेय भी उसके पास से होकर गुजरा। रोहिणेय को डर था कि कहीं भगवान् का उपदेश उसके कानों में न पड़ जाए। अतएव उसने अपने दोनों हाथों से अपने दोनों कान बन्द कर लिए। संयोग से चलते-चलते रोहिणेय के पैर में एक काँटा चुभ गया। अब वह एक हाथ तो अपने कान पर ज्यों का त्यों रखे रहा और दूसरे से पैर का काँटा निकालने लगा।

उस समय भगवान् के ये वाक्य रोहिणेय के कान में पड़े—

“देवलोक में देवों के गले की माला कुम्हलाती नहीं, देवों के पलक लगते नहीं, उनका शरीर निर्मल रहता है, तथा वे चार अंगुल जमीन छोड़कर अधर चलते हैं।”

इतने में रोहिणेय के पैर का काँटा निकल गया, और वह फिर दूसरे हाथ को अपने कान पर रखकर चलने लगा।

कुछ समय बाद रोहिण्य राजगृह में चोरी करता हुआ पकड़ा गया। परन्तु राजा के कर्मचारियों को यह नहीं मालूम हो सका कि वह रोहिण्य है या अन्य कोई? उन्होंने उसे पीटना आरम्भ कर दिया और कहा कि सच-सच बता तू कौन है? नीतिशास्त्र के अनेक पण्डित वहाँ आए, परन्तु कोई कुछ पता न लगा सका।

अन्त में जब कोई उपाय न रहा, तो चोर को खूब मद्यपान कराकर उसे बेहोश कर दिया गया, और एक अत्यन्त सुन्दर भवन बनाकर, उसे बहुमूल्य गद्दे-तकियों आदि से सजाकर चोर को वहाँ सुला दिया गया।

प्रातःकाल होने पर चोर ने देखा कि वह अत्यन्त सुन्दर भवन में लेटा हुआ है। नाना मणियों से जटित वह भवन जगमग-जगमग कर रहा है। उसका शरीर बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत है। सुन्दरी युवतियों का नाच-गान हो रहा है। नाच-गान के पश्चात् युवतियों ने चोर को प्रणामपूर्वक कहा—

“देव, आप बड़े भाग्यशाली हैं, जो आप इस देवलोक में जन्मे हैं। कृपाकर अपने पूर्वभव का वर्णन कीजिए। इस देवलोक का नियम है, कि जो अपने पूर्वभव का वर्णन करता है, वह अधिक समय तक देवलोक में वास करता है, अन्यथा वह यहाँ से शीघ्र ही च्युत हो जाता है।”

ये बातें सुनकर रोहिण्य को तुरन्त भगवान् महावीर के वाक्य स्मरण हो आए—“देवलोक में देवताओं की मालाएँ मुरझाती नहीं, उनके पलक लगते नहीं, तथा वे अधर चलते हैं।”

रोहिण्य ने सोचा कि तीर्थङ्कर के वाक्य कभी मिथ्या नहीं होते। मालूम होता है कि मुझे फँसाने के लिए यह सब जाल रचा गया है। यह सारा खेल मुझे फँसाने के लिए ही है।

रोहिण्य के मन में विचार आया — “महावीर के एक वाक्य का कितना माहात्म्य है ! उनके वाक्य-स्मरण से ही आज मुझे जीवन-दान मिला, अन्यथा मेरे जीवन का कभी का अन्त हो गया होता। जब उनका एक-एक वाक्य इतना कीमती है, तो उनका समस्त उपदेश कितना कल्याणकारी होगा !”

रोहिण्य के जीवन में क्रांति की लहर दौड़ गई और उसने भगवान् के चरणों में बैठकर उनका धर्म स्वीकार किया।

जैन कथाकोष/❁

## विजय चोर

बात यह उस समय की है, जब मगध देश की राजधानी राजगृह में राजा श्रेणिक राज्य करता था। श्रेणिक के राज्य में जहाँ सज्जन प्रजाजन थे—वहाँ क्रूर, कठोर और कटु-स्वभाव का विजय चोर भी था। नगर के लोग सदा इससे सावधान रहते थे। क्योंकि वे इसकी क्रूरता से परिचित थे। अनेकों बार इसे पकड़ने का प्रयत्न भी हुआ, परन्तु वह मालुका कच्छ में छुपा रहता, और अवसर पाकर कभी लूट-खसोट कर भागकर फिर छुप जाता। क्रूर प्रकृति का मनुष्य स्वयं भी भयभीत रहता है।

राजगृह में ही धन्य सार्थवाह नाम वाला एक प्रसिद्ध व्यापारी भी रहता था। भद्रा उसकी सेठानी थी। पन्थक नाम का एक उसके यहाँ दास था। सार्थवाह के पास विपुल धन और अपार वैभव था। परन्तु उसके घर में यदि कोई कमी थी, तो मात्र यही, कि उसके घर का दीपक कोई पुत्र या पुत्री नहीं था ! इसकी दोनों को सदा चिन्ता लगी रहती थी।

कालान्तर में धन्य और भद्रा की यह भावना भी पूरी हुई। माता की सूनी गोद को पुत्र जन्म ने भर दिया। नाम रखा, देवदत्त। बड़ी साध के बाद देवदत्त मिला था। अतः उसका बड़े लाड़-प्यार से लालन-पालन होने लगा। पन्थक दास सदा उसकी सेवा में तत्पर रहता। सदा छाया की तरह देवदत्त के साथ रहता था।

एक बार राजमार्ग के पास के मंदान में बालक क्रीडा कर रहे थे। पन्थक भी देवदत्त को लेकर वहाँ पर पहुँच गया। देवदत्त को एक ओर बैठाकर पन्थक खेल में बेभान था। अवसर पाकर विजय चोर देवदत्त को लेकर भाग गया, और उसके बहुमूल्य आभूषण उतार कर, उसको मारकर कूप में डाल दिया। पन्थक मुँह दिखाने लायक नहीं रहा। इस दारुण घटना से धन्य और भद्रा के दुःख का तो कहना ही क्या ?

पुलिस ने दौड़-धूप करके विजय चोर को पकड़ लिया, और देवदत्त का शव भी कूप में मिल गया। विजय चोर को इस क्रूर कर्म के कारण जेल में बन्द कर दिया। परन्तु भद्रा को क्या पुत्र के अभाव में चैन थी ? इकलौते बेटा का अभाव माता को बहुत दिनों तक सालता रहता है। धीरे-धीरे धन्य और भद्रा पुत्र-शोक को भूले ही थे, कि किसी राज-अपराध में धन्य सार्थवाह भी पकड़ा गया, और विजय चोर के साथ ही उसे भी जेल में बन्द कर दिया गया। सार्थवाह को उसके घर से भोजन आता था। विजय चोर ने कहा—“मैं भूखा हूँ ! मुझे भी थोड़ा भोजन दे दिया करो।” सेठ ने कहा—“तू मेरा पुत्र घातक है। मैं तुझे भोजन नहीं दे सकता।”

सार्थवाह को शौच-लघु-शंका हुयी, तो उसने विजय चोर से साथ में चलने को कहा, क्योंकि वे दोनों एक ही बेड़ी से बंधे हुए थे। विजय चोर ने अवसर से लाभ उठाते हुए कहा—“अपने भोजन में से मुझे भी देने की प्रतिज्ञा करो, तो साथ चलूँ।” धन्य को विजय की बात स्वीकार करनी पड़ी। वह अपने भोजन में से कुछ भाग विजय चोर को भी देने लगा।

जेल से मुक्त होकर सार्थवाह घर आया। सब ने हर्ष प्रकट किया। परन्तु भद्रा ने स्वागत इसलिए नहीं किया, कि उन्होंने

१४२ : पीयूष घट

जेल में मेरे पुत्र-घातक को भोजन-पान कराया था। नारी का कोमल-मानस रूष्ट भी जल्दी होता है, और तुष्ट भी जल्दी। धन्य के समझाने पर भद्रा भली-भाँति समझ गयी।

कालान्तर में धन्य सार्थवाह ने धर्मघोष मुनि से त्याग-धर्म स्वीकार किया। देव-जन्म के बाद महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा। विजय चोर अपने क्रूर कर्मों के कारण नरक में उत्पन्न हुआ।

आत्मा धन्य सार्थवाह हैं, और शरीर विजय चोर। ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि सद्गुण देवदत्त तुल्य हैं। अपना अहित करने वाले शरीर को भी आत्मा सहयोग इसलिए देता है, कि वह उसके विकास में साधन बनकर रहेगा।

—ज्ञातासूत्र/●

## मण्डित चोर

यह शरीर संयम-साधना में जब तक सक्षम और स्वस्थ है, तब तक इसका पालन-पोषण तथा संरक्षण करना आवश्यक है। परन्तु यह सब जीर्ण-शीर्ण हो जाए, तब तप करके आत्म-कल्याण में उसे सफल करना चाहिए।

प्राचीन समय में बेनातट नगर में मूलदेव नाम का एक राजा था, वह अपनी प्रजा का स्नेह से पालन करता था। प्रजा का कष्ट राजा का अपना कष्ट होता है। उसी नगर में एक मण्डित चोर भी रहता था।

दिन में वह अपने पैर में पद्दी बाँधकर जुलाहे का रूप बनाकर नगर के बाजारों में, गलियों में और मुहल्लों में चोरी का दाव देखता फिरता रहता था। उसके घर में एक भूमि-गृह था, जिसमें लूट का और चोरी का अपार धन भरा पड़ा था, जिसकी रक्षा उसकी रूपवती बहिन किया करती थी। भाई चोर था और बहिन रखवालिन थी। मण्डित चोर ज्यों ही मजदूर के सिर पर धन की पोट धरवाकर लाता, बहिन त्यों ही मजदूर के पैर-हाथ धोने के बहाने उसे कूप में धकेल देती।

मूलदेव राजा ने प्रजा के दुःख को देखकर मण्डित चोर को पकड़ने का दृढ़ संकल्प कर लिया। मनुष्य क्या नहीं कर सकता? यदि वह करना धार ले, तो। मूलदेव मजदूर का वेष बनाकर रात को नगर भर में घूमता-फिरता रहता।



एक बार देवयोग से मण्डित को मूलदेव मजदूर ही मिल गया। सिर पर गठरी उठाकर वह मण्डित के घर पहुँचा। गठरी अन्दर डाली और मण्डित चोर की रूपवती बहिन मजदूर के पैर हाथ धुलाने बाहर आयी। कूप के कोठ पर बैठ गयी। पैर धोने को तैयार हुयी, कि पैर में राज-चिन्ह देखकर चकित हुयो। रूप को रूप खींचता है। वह मूलदेव पर मुग्ध होकर बोली—

“मैं आपको मारने के भाव से आयी थी, पर आप पर मेरा सहज स्नेह हो गया। मैं आपको अपना पति स्वीकार करती हूँ। मैं यह भी जानती हूँ, कि आप राजा हैं।”

“परन्तु एक शर्त के साथ मैं आपको अपना पति बना सकती हूँ, और सारा धन-वैभव भी दिखा सकती हूँ। यदि आप मेरे भाँई मण्डित को न मारें, तो।”

मूलदेव बुद्धिमान और धीर था। दूसरे रोज मण्डित को जुलाहे के रूप में पकड़ लिया। अपने सामने मण्डित चोर को खड़ा करके बोला—

“मण्डित, मैं तुझे इस शर्त पर छोड़ सकता हूँ, कि तू अपनी बहिन का विवाह मेरे साथ कर दे। मैं तुझे अपने कोष का अध्यक्ष भी बना सकता हूँ।”

मण्डित को यह बात पसन्द आ गयी। उसने अपनी बहिन का विवाह मूलदेव राजा के साथ कर दिया। वह राज्य-कोष का अध्यक्ष बना।

कालान्तर में मूलदेव ने मण्डित से मधुर स्वर में कहा—  
“अब तुम्हें धन की क्या कमी है। प्रजा का धन लौटा दो।”  
मण्डित ने धीरे-धीरे सबका धन लौटा दिया। एक रोज अवसर देखकर राजा ने मण्डित को शूली पर चढ़ा दिया। प्रजा अब

सुखी और समृद्ध होती गई, क्योंकि चोर का भय अब नहीं रहा था ।

यह शरीर चोर है । धर्म धन है । जीव राजा है । जब तक शरीर से धर्म होता है, तब तक वह उसकी रक्षा करता है । बाद में तप की आग में जलकर अपनी आत्म-शुद्धि करता है ।

—उ० अ० ४, गाथा ७, टीका/●

## आचार्य आषाढी के शिष्य

संशय और शंका से अध्यात्म-जीवन में कालुष्य आ जाता है । यदि उसका भली-भाँति से समाधान नहीं किया जाता है, तो ।

श्वेताम्बिका नगरी के पोलास बाग में, आचार्य आषाढी अपने शिष्यों को योग की साधना करा रहे थे । आधा काम हो चुका था, आधा अभी बाकी था ।

कर्म का खेल अद्भुत है । मध्य रात्रि में विसूचिका रोग के तीव्र प्रकीर्ण से आचार्य के जीवन का सहसा अवसान हो गया । आचार्य देवलोक में, देवरूप से उत्पन्न हो गए । शिष्य निद्रा में सोते ही रहे । उन्हें इस घटना का जरा भी पता नहीं लग सका ।

देव ने विचार किया—शिष्यों की साधना अभी अधूरी है । यह सोचकर उसने रूपने मृत कलेवर में प्रवेश किया । प्रातःकाल

शिष्यों को जगाकर कहा—“उठो, प्रतिक्रमण करो । प्रतिलेखना करो । ध्यान करो ।”

जब योग साधना पूरी हुई, और वह देव तदृश्य होकर इस प्रकार बोला—

“मैं मरकर देव बन गया था । तुम्हारी साधना पूरी कराने को ही मुझे यहाँ पर आना पड़ा है । मैं असंयत और अक्रिय होकर भी तुम लोगों से वन्दन और सत्कार लेता रहा हूँ । इसके लिए मैं तुम सबसे क्षमा याचना करता हूँ । तुम सब मिलकर मुझ को क्षमा प्रदान करो ।”

इस घटना से शिष्यों के मन में संशय और शंका का वातावरण पैदा हो गया । वे एक-दूसरे से इस प्रकार परस्पर कहने लगे—

“भगवान् तीर्थंकर की आज्ञा है, कि असंयत को वन्दना नहीं करनी चाहिए । कौन संयत है ? कौन असंयत है ? इसका परिबोध होना कठिन है ।”

अतः सबने ‘अव्यक्त-धर्म’ को स्वीकार कर लिया । उन्हें सर्वत्र अन्धकार ही दीखने लगा । कहीं पर भी उनका विश्वास नहीं जमता था ।

एक बार वे सब शिष्य घूमते-घूमते राजगृह नगरी में जा पहुँचे । उस समय वहाँ पर सूर्यवंशी राजा बलभद्र राज्य करता था । वह भगवान् महावीर का परम भक्त था । राजा को इन अव्यक्त निन्हवों के आने का पता लग गया ।

कभी-कभी जो बात उपदेश से समझ में नहीं आती, वह युक्ति से सहज में ही समझ में आ जाती है । राजा ने उनको

सन्मार्ग पर लाने के अनेक सत्प्रयत्न किए। परन्तु वे समझ नहीं सके। आखिर, राजा ने अपने अनुचरों से श्रमणों को बुलवाया, और उसको अपमानित किया।

श्रमण कहने लगे—“राजन्, तुम श्रावक होकर हम श्रमणों को अपमानित क्यों करते हो? हम तो निरपराध हैं।”

राजा ने अपनी बात का अवसर देखकर कहा—“कौन जानता है, कि आप श्रमण हैं, और मैं श्रावक हूँ? आपके मत में तो सब कुछ अव्यक्त है। इस देह में कौन साधु है, कौन असाधु है? इसका परिज्ञान आप में से किसी को नहीं है। फिर आप यह कैसे कहते हैं, कि हम निरपराध श्रमण हैं।”

राजा के कथन को सुनकर आचार्य आषाढी के शिष्य अपनी भूल को पहचान गए। फिर अपने भ्रान्त विचारों की आलोचना करके, बुद्धि करके बुद्ध हो गए। फिर पहले जैसे ही एक-दूसरे को वन्दन भी करने लगे।

अपने मन का संशय और शंका के दूर होते ही वे फिर से भगवान् के पवित्र एवं सत्य सिद्धान्तों पर दृढ़ता से श्रद्धा करने लगे।

—उ० अ० ३, नि० गा० १६६

## क्षणिकवादी अश्व मित्र

गुरु से ज्ञान प्राप्त करना सहज नहीं है। पात्रता, योग्यता और गम्भीरता की बड़ी जरूरत है। अन्यथा, कभी-कभी अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है।

किसी समय मिथला नगरों के बाहर लक्ष्मी नन्दन बाग में, आचार्य महागिरि अपने शिष्य परिवार को लेकर पधारे। आचार्य का शिष्य था, कोडिन्न और कोडिन्न का शिष्य था, अश्व मित्र। वह बड़ा ही मेधावी और कुशाग्र बुद्धि था। वह अपने गुरु से दशम पूर्व का अध्ययन कर रहा था।

एक बार उसके मन में शंका उठी—

“जीव कभी नारक, कभी देव, कभी मनुष्य और कभी पशु बनता है। विद्युत् के तुल्य यह चेतना को धारा क्षणिक है। वह स्थिर नहीं है। कभी कुछ और कभी कुछ।

आचार्य ने और उसके गुरु ने भी समाधान करने का प्रयत्न किया। वे इस प्रकार से बोले—“वत्स, प्रत्येक वस्तु पर्याय दृष्टि से क्षणिक होते हुए भी द्रव्य से स्थिर है।” परन्तु उसने अपना मिथ्याग्रह नहीं छोड़ा। वह अपना मिथ्या मान्यता पर अटल रहा। समझाना-बुझाना सब बेकार गया।

एक बार अश्व मित्र राजगृह में पहुँचा। भगवान् महावीर के श्रावकों को ज्ञान हुआ, कि यहाँ एक क्षणिकवादी निन्ह्व आया है। श्रावक उसको अपमानित करने लगे।

वह बोला—“मुझे क्यों अपमानित करते हो ? मेरा अपराध क्या है ?”

श्रावकों ने कहा—“न अब अपमानित होने वाला रहा, और न अमान करने वाले ही रहे । आपके मत में तो सब क्षणिक है । फिर कौन किसका अपराध है ? आपके मत में तो कोई किसी का अपराधो है ही नहीं ।”

श्रावकों की बातों को सुनकर अश्वमित्र अपनी भूल को समझ गया । अपने मिथ्या विचारों की आलोचना करके वह पुनः शुद्ध हो गया । भगवान् महावीर के सिद्धान्तों में फिर से स्थिर हो गया ।

—उ० अ० ३, नि० गा० १७०/●

## त्रैराशिक रोहगुप्त

मनुष्य को ज्ञान तो सीखना चाहिए । पर अपने प्राप्त ज्ञान का अहंकार कभी न करना चाहिए । अहंकारी का ज्ञान भी अज्ञान ही है ।

अन्तरिक्ष नगर में भूतग्रह बाग था । एक बार वहाँ श्रोगुप्त आचार्य पधारे । आचार्य अपने शिष्य परिवार के साथ थे ।

उसी अवसर पर वहाँ पर कहीं से एक परिव्राजक भी आया, जो अनेक विद्याओं में प्रवीण था । राज-सभा में जाकर वह बोला—

“राजन् ! या तो आपके राज्य के पण्डित मेरे से शास्त्रार्थ करें, या हार मानकर मुझे विजेता मान लें ।” राजा का एक भी पण्डित शास्त्रार्थ को तैयार नहीं हुआ । सब के सब पण्डितों ने कहा—

“यहाँ पर श्रोगुप्त आचार्य पधारे हैं । उनका शिष्य रोहगुप्त बड़ा विद्वान् है । वह शास्त्रार्थ कर सकता है । दूसरे किसी की शक्ति नहीं है, इसको जीतने की ।”

रोहगुप्त ने आचार्य को बिना पूछे ही अपनी अनुमति दे दी । आचार्य को ज्ञात होने पर उन्होंने कहा—

“भिक्षु को इस प्रकार के वितण्डावाद में नहीं पड़ना

चाहिए।” गुरु के इन्कार करने पर भी रोहगुप्त शास्त्रार्थ करने के लिए राज-सभा में गया।

परिव्राजक ने अपनी विद्या से एक बिच्छू बनाया। रोह ने अपनी विद्या से मयूर बना दिया। बिच्छू भाग गया। फिर परिव्राजक ने मूषक बनाया, तो रोह ने विलाव बना दिया। परिव्राजक ने हरिण बनाया, तो रोहगुप्त ने सिंह बना दिया। किसी भी प्रकार रोह ने परिव्राजक को जीतने नहीं दिया। आखिर हारा हुआ मनुष्य रोष करने लगता है।

परिव्राजक ने सोचा—रोहगुप्त बड़ा विद्वान् है। इसको जीतना बड़ा कठिन है। तब परिव्राजक ने चातुर्य से काम लिया। उसने रोह से पूछा—

“राशि दो होती हैं न?” अब यदि रोहगुप्त इस सत्य को स्वीकार करता है, तो परिव्राजक की बात का समर्थन होता है। यदि इन्कार करता है, तो अपने सिद्धान्त का अपलाप होता है। विवाद में जीतना ही मुख्य ध्येय होता है। रोहगुप्त ने कहा—

“राशि दो नहीं, तीन होती हैं जीव राशि, अजीव राशि और नो जीव नो अजीव राशि।” अन्त में परिव्राजक हार गया और रोहगुप्त जीत गया।

रोहगुप्त की प्रशंसा चारों ओर फैल गई। परन्तु आचार्य ने कहा

“तूने सिद्धान्त के विरुद्ध मत की स्थापना की है, यह ठीक नहीं है।” रोह को भी अपनी बात का आग्रह हो गया था। समझाने पर भी वह समझा नहीं।



## १५२ : पीयूष घट

कालान्तर में, आचार्य रोहगुप्त को कृतिका-वणिक् की दुकान पर ले गए। वहाँ स्वर्ग, पाताल और मध्यलोक में जो भी वस्तुएँ हैं, सब मिलती थीं। आचार्य ने वहाँ पहुँचकर 'नो जीव, नो अजीब वस्तु माँगी।'।

वणिक् ने कहा—“यह वस्तु तो तीनों लोक में से किसी भी लोक में नहीं है। फिर मिलेगी कहाँ से ?”

आचार्य ने रोहगुप्त से कहा—“वत्स ! अपना आप्रह छोड़ दो। अपने मिथ्या विचार की आलोचना करके शुद्धि कर ले।”

परन्तु रोह किसी भी प्रकार माना नहीं। अन्त में आचार्य ने रोहगुप्त को गच्छ से बाहर कर दिया। सिद्धान्त का अपलाप करने से वह रोहगुप्त निन्हव हो गया।

—उ० अ० ३, नि० गा० १७२/●

## फाल्गुरक्षित का दुराग्रह

विनीत शिष्य शंका होते ही गुरु से समाधान कर लेता है। गुरु से समाधान पाकर वह अपने आग्रह का परित्याग कर देता है।

दशपुर एक सुन्दर नगर था। वहाँ पर एक आचार्य पधारे। उनके तीन शिष्य थे—दुर्बालिका-पुष्पमित्र, फाल्गु-रक्षित और गोष्ठा-महिल। फाल्गु रक्षित तीनों में बड़ा था।

परन्तु अयोग्य होने से आचार्य ने उसे आचार्य पद नहीं दिया। पुष्प मित्र की योग्यता से प्रसन्न होकर उसे आचार्य पद दे दिया।

फाल्गु रक्षित, दोनों पर विद्वेष रखने लगा। मनुष्य अपनी अयोग्यता का विचार न करके दूसरों पर ईर्ष्या करने लगता है।

फाल्गु रक्षित ने कहा—“जीव के कर्म चिपटे हुए हैं। यह सिद्धान्त गलत है। जैसे अंगरखी और शरीर तथा शरीर और कंचुकी अलग-अलग हैं, वैसे ही आत्मा और कर्म भी अलग-अलग हैं।”

उसका दूसरा विचार यह था, कि जब तक मन स्थिर रहे, तभी तक व्रत एवं प्रत्याख्यान सच्चा है।

गुरु के समझाने पर भी वह माना नहीं। अन्त में आचार्य ने उसे गच्छ से बाहर कर दिया।

आग्रह-शील मनुष्य कभी भी विनीत और योग्य नहीं बन सकता।

—सू० अ० ३, नि० गा० १७५/●

## तिष्यगुप्त की भ्रान्ति

सत्य अनन्त है। उसे अनन्त विज्ञान ही जान सकता है। किसी भी वस्तु और किसी भी सिद्धान्त के विषय में एकान्त विचार मिथ्या होता है।

तिष्यगुप्त एक भेधावी तथा प्रतिभावान् श्रमण था। उसके पास तीव्र तर्क-शक्ति भी थी। परन्तु जब तर्क श्रद्धा से भटक जाता है, तो हेय हो जाता है।

तिष्यगुप्त अपने गुरु से आत्म-प्रवाद पूर्व पढ़ रहा था। उसमें जीव का विस्तृत वर्णन है। शिष्य ने गुरु से तर्क किया—

“गुरुदेव ! क्या जीव के एक प्रदेश को, दो प्रदेशों को, तीन आदि प्रदेशों को भी जीव कह सकते हैं ?”

गुरु ने कहा—“हां, कह सकते हैं।” शिष्य ने अपनी बात को मजबूत करते हुए कहा—“नहीं, गुरु देव ! यह सिद्धान्त सत्य नहीं है। या तो पूर्ण प्रदेशों वाले जीव को ही जीव कहो, या फिर जीव के चरम प्रदेश को जीव कहो। शेष दशाओं में जीव को जीव नहीं कह सकते।” तिष्यगुप्त अपनी बात पर अड़ गया। आग्रह मनुष्य को एकान्तवाद की ओर ले जाता है।

गुरु ने मृदुवाणी में अनेकों प्रकारों से समझाया। पर वह नहीं माना। गुरु ने कहा—“भगवान् का वचन सापेक्ष होता है। अपेक्षा से एक प्रदेश भी जीव हो सकता है। सम्पूर्ण प्रदेश भी

जीव हो सकता है। चरम प्रदेश भी जीव हो सकता है। यह तो नयवाद की अपेक्षा से कहा गया है।” गुरु ने तर्क रखते हुए कहा —

“वत्स, सुदि की प्रतिपदा को भी शुक्ल पक्ष कहते हैं, और पूर्णिमा को भी शुक्ल पक्ष कहते हैं। नैगम नय और निश्चम नय को समझो !”

मिथ्यात्व का उदय होने पर सत्य भी असत्य जैसा लगने लगता है। तिष्य समझ नहीं सका। गुरु ने उसका परित्याग कर दिया। तिष्यगुप्त अपने मिथ्या विचार का प्रचार करने लगा।

एक बार बिहार करता-करता तिष्यगुप्त अमल कल्पा नगरी में जा पहुँचा। वहाँ उसने अपने विचार का प्रचार किया। श्रोताओं में वहाँ एक मित्रश्री श्रावक भी था।

वह भगवान् महावीर का परम भक्त था। गम्भीर व्यक्ति किसी त्रुटि को सबके सामने कभी नहीं कहता है।

मित्रश्री ने तिष्य को समझाने के अनेक प्रयत्न किए। एक बार तिष्य भिक्षा करता-करता श्रावक के घर भी पहुँच गया। चतुर कभी अवसर को हाथ से नहीं जाने देता है। तिष्य ने गोचरी लेने को अपना पात्र खोला, तो मित्रश्री ने उसमें एक चावल का दाना, एक दाल का दाना, और एक घी का टपका रख दिया।

तिष्य ने कहा—“श्रमण का भी उपहास किया जाता है।” मित्रश्री ने कहा—“यह उपहास नहीं है। आपका सिद्धान्त ही ऐसा है। जीव के एक चरम प्रदेश को ही तो आप जीव मानते हैं न ? फिर एक-एक दाने से सम्पूर्ण चावल और सम्पूर्ण दाल क्यों

१५६ : पीयूष घट

नहीं मान लेते ? घी के एक टपके को संपूर्ण घी क्यों नहीं मान लेते ? क्या एक दाने से आपकी भूख शान्त नहीं हो जाती ?”

तिष्यगुप्त को यह बात लग गई। वह इस युक्ति से अपने तर्क के मिथ्यात्व को समझ गया। अपने भ्रान्त विचारों की आलोचना की और भगवान महावीर के सिद्धान्त में फिर से दृढ़ आस्था अभिव्यक्त की। सुबह का भूला, शाम को घर लौट आया।

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, उसे एक ही दृष्टिकोण से देखना मिथ्यात्व है, और अनेक अपेक्षाओं से समझना अनेकान्त है।

—उ० अ० ३, नि० गा० १६८/●

## आर्य गंगदेव का भ्रम

शुद्ध श्रद्धा का मिलना कठिन है। बिना श्रद्धा के जीवन स्थिर नहीं होता। जो मनुष्य अपनी श्रद्धा को शुद्ध रखता है—वह कभी दुःखी नहीं होता।

उल्लक नदी के तीर पर उल्लक तौर एक नगर था। नदी के दूसरे तीर पर खेटक ग्राम था। नगर में धनगुप्त आचार्य का वर्षावास था। आचार्य का शिष्य गंगदेव अपने निष्य परिवार के साथ खेटक ग्राम में था।

एक बार शरत्काल में वह गुरु को वन्दन करने जा रहा था। मार्ग में नदी पड़ी। वह नदी को पार कर रहा था। ऊपर सूर्य तप रहा था, और नीचे शीतल जल। उसके मन में विचार आया—

“भगवान् का कथन है, कि एक समय में दो क्रियाओं का वेदन नहीं होता है। परन्तु यह तो प्रत्यक्ष है, कि मैं एक साथ ही सरदी और गरमी का वेदन कर रहा हूँ।”

गुरु की सेवा में पहुँच कर उसने अपने विचार को गुरु के सामने रखा। गुरु ने कहा—

“तुम्हारा यह विचार सत्य नहीं है। 'सुख में उपयोग होने पर दुःख नहीं, और दुःख में उपयोग होने पर सुख नहीं।’

१५८ : पीयूष घट

यह भगवान् का कथन है, और यह सत्य है।” गंगदेव अपने आग्रह को न छोड़ सका।

कालान्तर में वह राजगृह गया। वहाँ नदी के तीर पर एक यक्षायतन था। वहाँ पर गंगदेव अपना उपदेश देने लगा। यक्ष कुपित हो गया।

बोला—“तेरा कथन असत्य है। यक्ष ने क्रोध के स्वर में कहा—तू इस असत्य पथ को छोड़ दे, नहीं तो तेरा अहित होगा।”

विचार करने पर गंगदेव को अपनी भूल का परिबोध हो गया। अपने मिथ्या विचारों की आलोचना करके वह फिर शुद्ध हो गया।

—उ० अ० ३, नि० गा० १७१/●

## मृगा पुत्र

जीव अपने कर्मों का फल पाता है। वह जैसा भी कर्म करता है, वैसा ही फल उसे मिल जाता है। कर्म का सिद्धान्त अटल एवं अचल है। उसके अतिक्रमण करने की शक्ति किसी में भी नहीं है। दारुण कर्म का फल भी दारुण ही होता है। अपना उत्थान और पतन करने में जीव स्वतन्त्र है। वह ऊँचा भी उठ सकता है, और नीचे भी गिर सकता है।

जम्बुद्वीप के भरत-क्षेत्र में शतद्वार एक नगर था। वहाँ पर राजा धनपति राज्य करता था। शतद्वार नगर के अग्निकोण में विजय वर्धमान एक ग्राम था, वहाँ इकाई राठौर एक ठाकुर था। वह पाँच-सौ ग्रामों का अधिपति था। वह प्रकृति से कठोर, स्वभाव से क्रूर और हृदय से दुष्ट प्रकृति का था। अपने पाप को भी वह पुण्य समझता था। इकाई ठाकुर प्रजा का उत्पीड़न करता था। अन्याय से धन एकत्रित करता था। चोरी और लूट भी करता था। प्रजा को त्रास देना ही उसका धर्म था। पाप का घड़ा जब भर जाता है, तब फूट जाता है। ठाकुर के पापकर्म का उदय आ चुका था। उसके देह में एक साथ सोलह महा रोग उत्पन्न हो गए। वैद्यों को मुँह माँगा धन देने की उद्घोषणा करने पर भी कोई वैद्य उसके एक भी रोग को शान्त नहीं कर सका। पापी मर कर भी चैन नहीं पाता। इकाई मर कर रत्न प्रभा में नारक रूप में वेदना भोगने लगा।



मृगा ग्राम नगर में विजय क्षत्रिय राजा था। मृगावती उसकी रानी थी। इकाई का जीव नरक की भयंकर वेदना भोगकर मृगावती के गर्भ में आया। पापात्मा पुण्यवती माता के गर्भ में आकर, उसके संकल्पों को भी दूषित कर देता है। विजय क्षत्रिय का स्नेह मृगावती पर से हटने लगा! मृगावती ने गर्भपात का संकल्प भी किया, परन्तु सफल नहीं हो सकी।

गर्भकाल पूरा होते ही मृगावती ने एक पुत्र को जन्म दिया, जो अन्ध, मूक, बधिर और पंगु था। जिसके कान-नाक, आँख आदि के आकार मात्र ही थे। पुत्र को देखते ही मृगावती भयभीत होकर उस मांस-पिण्ड को कूरड़ी पर डालने का आदेश देने लगी परन्तु राजा के निषेध से वह वैसा कर नहीं सकी। पाप का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो पाता।

भगवान् महावीर मृगा ग्राम नगर में पधारे। विजय राजा वन्दन को गया। हजारों लोग भी उपदेश सुनने को आए। एक जन्मान्ध मनुष्य भी परिषद् में बैठा था। उसकी हीन दशा को देखकर गणधर गौतम ने प्रभु से पूछा—

“भंते, इस अन्ध से भी भयंकर वेदना भोगने वाला जीव कोई है?” भगवान् ने कहा—“हाँ, गौतम है। विजय राजा और मृगावती रानी का पुत्र मृगा भयंकर वेदना में है।” मृगा को देखने की बलवती वृत्ति गौतम के मन में जागी। मृगावती के पास जाकर गौतम ने सहज भाव से अपने आने का कारण बताया। पहले तो मृगावती ने अपने स्वस्थ और सुन्दर पुत्रों को दिखाया। किन्तु बाद में मृगा को भी दिखाया।

जिस भूमि-गृह में वह बन्द था, उसका द्वार खोलते ही दुर्गन्ध आने लगी। बड़ी वीभत्स मूर्ति थी। भोजन करने का ढंग भी

उसका बड़ा बीभत्स था। देखकर गणधर गौतम के मन में आया—

“यह ऐसा किस पाप-कर्म से बना ?” गौतम वहाँ से चन्दन पादप बाग में प्रभु के पास लौट आए। गौतम के प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने मृगा के पूर्वभव और अनन्तर भावी भवों का वर्णन किया—“अनन्त संसार में परिभ्रमण के बाद मृगा अपने पाप-कर्मों से हल्का होकर महाविदेह से सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।”

मृगा का जीवन पाप-कर्म की वास्तविक कहानी है। पाप करने वाला ही अपने पाप को भोगता है।

—विपाक श्रु० १, अ० १/●

## उज्जित कुमार

सुरा, सुन्दरी और मांस में संसक्त रहने वाला जीव कभी सुखी और समृद्ध नहीं होता। भोग के कर्दम में फँसा मनुष्य अपना कितना पतन कर सकता है ?

हस्तिनापुर एक सुन्दर नगर था, वहाँ पर सुनन्द राजा था। नगर में एक दर्शनीय गोशाला थी, जिसमें गाय, बैल, भैंस और पाड़ों के पालन का अच्छा प्रबन्ध था।

नगर में एक भीम कूटग्राही नाम वाला क्रूर भाव का लुटेरा भी रहता था, उसकी पत्नी का नाम उत्पला था। जब वह गर्भवती हुई, तो उसके मन में दोहद आया—

“मैं गाय और बैलों की गोवा, उदर और हृदय का मांस भक्षण करूँ।” भीम रात्रि के अन्धकार में गोशाला में पहुँचा और मांस ले आया। पापात्मा की माता का दोहद भी पीड़क होता है। पुत्र का जन्म हुआ, और उसका नाम गोत्रास रखा। गोत्रास क्रूर, कठोर और निर्दय था। भीम कूटग्राही के मरने पर वह सेनापति बना, परन्तु प्रजा को पीड़ित करता ही रहा। मर कर वह नरक में गया।

वहाँ से गोत्रास का जीव वाणिज्य ग्राम नगर में रहने वाले विजय मित्र सार्थवाह की पत्नी सुभद्रा के पुत्र रूप में जन्मा।

माता को उस पर अप्रीति उत्पन्न हो गई । इसलिए उसे कूरड़ी पर फेंक दिया । फिर वापिस ले लिया । इस कारण उसका नाम उज्जित कुमार रखा गया । यौवन में आकर वह उद्धत, स्वच्छन्द और दुर्वृत्त हो गया । अवारा होकर इधर-उधर घूमता फिरता रहता था ।

नगर में कामध्वजा गणिका थी । सुन्दर, चतुर और मनो मोहिनी थी । उज्जित कुमार उसके स्नेह-भाश में बँध गया । मधुलिप्त असिधारा के समान भोग प्रारम्भ में मधुर लगता है । रानी के अस्वस्थ हो जाने पर राजा की दृष्टि भी कामध्वजा पर जाकर टिकी । सुन्दरी और सुरा अपने उपभोक्ता को उन्मत्त कर देती है । राजा ने कामध्वजा पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया ।

एक बार उज्जित कुमार कामध्वजा के यहाँ पर जा पहुँचा । दोनों एक-दूसरे के स्नेह में आबद्ध थे । राजा ने यह देखा, तो क्रुद्ध होकर आदेश दिया ।

“इसके कान और नाक काट लो, पैर में बेड़ी पहना दो, दोनों हाथ पीछे बाँध दो और नगर के बीचों-बीच मारते हुए इसे निकालो ।” आदेश कठोर था । परन्तु राजा का था । राजा के विरुद्ध बोलने की शक्ति किसमें है ! मनुष्य दूसरे के पाप को देखता है, अपना नहीं ।

भगवान् महावीर नगर के बाहर बाग में विराजित थे । गणधर गौतम भिक्षा लेकर लौट रहे थे । मार्ग में जन-समूह से परिवेष्टित उज्जित कुमार की दशा को देखकर, वे गम्भीर हो गए । मार्ग में अनेक प्रश्न उनके विमल मानस पर उमरे आ रहे

१६४ : पीयूष घट

थे । प्रभु के चरणों में आकर गौतम ने उज्जित कुमार के विषय में पूछा—

भगवान् ने उसका पूर्व भव और अनन्तर भावी भवों का वर्णन किया—“अनन्त संसार का परिभ्रमण करता-करता वह महाविदेह से सिद्ध होगा ।”

जीव अपने कर्म से ही पतन के गर्त में गिरता है, और अपने कर्म से ही उत्थान के पथ पर लगता है । अपना विकास और अपना विनाश, मनुष्य के अपने हाथों में है ।

—विषाक श्र० १, अ० २/●

## अभग्न सेन चोर

रसना लोलुप मनुष्य अपने जीवन की ओर नहीं देखता । अपने सुख और स्वाद के लिए वह दूसरों की वेदना का अनुभव नहीं करता ।

पुरिमताल एक नगर था । महाबल वहाँ का राजा था । नगर में एक अण्ड वणिक भी रहता था । वह अण्डों का व्यापार करता था और स्वयं भी अण्डों का भक्षण करता था । अपनी आयुष्य पूरी करके वह नरक में गया ।

नगर के समीप ही पर्वत की कन्दराओं में एक चोर पत्नी थी । विजय चोर सबका नेता था । उसके पास पाँच-सौ चोरों का दल था । वह क्रूर, निर्दय और लुटेरा था ।

अण्ड वणिक का जीव विजय चोर के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । नाम रखा अभग्न सेन । वह अपने पिता से भी अधिक भयंकर और साहसी था । प्रजा के प्राणों की उसे जरा भी परवाह नहीं थी । प्रजा की शिकायतों से तंग आकर राजा ने अभग्न सेन को पकड़ने के लिए अपनी सेना भेजी, पर वह हाथ नहीं आ सका । अन्त में धोखा देकर उसे पकड़ लिया गया । राजा क्रुद्ध था । अतः कठोर दण्ड देने का आदेश दिया—

राजमार्ग में बाँधकर और मारते-पीटते उसे ले जा रहे थे ।

१६६ : पीयूष घट

हजारों लोग उसका तमाशा देख रहे थे । गणधर गौतम भी उस मार्ग से भगवान् के चरणों में नगर से बाहर उपवन में जा रहे थे । मार्ग में यह करुण दृश्य देखा । प्रभु चरणों में पहुँचकर अभग्न सेन चोर के विषय में पूछा । भगवान् ने उसका पूर्वभव और उत्तर भवों का वर्णन किया—

“अनन्तकाल तक संसार का परिभ्रमण करके शुद्ध अध्यवसाय के कारण वाराणसी नगरी में एक श्रेष्ठी पुत्र होकर संयम ग्रहण करके, अपनी साधना से सिद्ध होगा ।”

—विपाक श्र० १, अ० ३/●

## शकट कुमार

वासना पर विजय पाना मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए।  
मुन्दरी के स्नेह-पाश में बद्ध होकर कौन सुखी हो सका है !

सोहंजनी नगरी में महाचन्द्र राजा राज्य करता था। सुभद्र श्रेष्ठी और उसकी पत्नी भी इसी नगरी में रहते थे। भद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। नाम रखा—शकट कुमार। नगरी में सुदर्शना एक वेश्या भी थी। उस पर शकट अत्यन्त आशक्त था। अमात्य भी सुदर्शना की रूप-राशि पर मुग्ध था।

शकट अपने माता-पिता के मरने पर उद्धत, कठोर और स्वच्छन्द हो गया था। वर्तमान जीवन पूर्व के संस्कारों का फल है।

छगलपुर से सिंहगिरि राजा राज्य करता था। वहाँ पर छनिक नाम वाला कसाई भी रहता था। बकरा, मेंढा, गाय, भैंस और हरिण आदि जीवों को मारकर उनका मांस बेचा करता था। पाप के धन से धनवान् होकर वह और भी अधिक पाप करता रहता था। वहाँ से मरकर ही वह शकट कुमार बना था।

एक बार अमात्य ने शकट को सुदर्शना से स्नेह करता देखा। वह जल-भुन गया और राजा से शिकायत की। राजा ने



१६८ : पीयूष घट

कठोर से कठोर सजा देने को कहा । अमात्य के आदेश से उसके अंग भंग किए गए और बाजार से होकर वध्य-भूमि ले जाया जा रहा था ।

मार्ग में गणधर गौतम ने यह करुण दृश्य देखा और भगवान् से पूछा । भगवान् ने शकट का पूर्व भव और उत्तर भवों का वर्णन किया—

“अनन्त संसार में परिभ्रमण करता-करता अन्त में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा ।”

—विपाक श्रु० १, अ० ४/●

## बृहस्पति दत्त

मनुष्य सुख, शान्ति और समृद्धि की मधुर कल्पना करता है, अपने लिए। परन्तु वह अपने सुख का भव्य प्रासाद दूसरों की लाश पर खड़ा करता चाहता है। यह उसकी भ्रान्ति है।

सर्वभद्र नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। महेश्वर दत्त उसका पुरोहित था। राज्य की वृद्धि के लिए और राजा की शान्ति के लिए वह यज्ञ किया करता था, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के बालकों के हृदय का मांस लेकर अग्नि में होमता था। वह क्रूर था, क्रूर कर्मा था। मर कर वह वहाँ से नरक में गया। वहाँ से वेदना भोगकर वह—

राजा शतनिक शाशित कौशाम्बी नगरी में पुरोहित सोमदत्त की पत्नी वसुदत्ता के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। नाम रखा—

बृहस्पति दत्त। राजा के एक राजकुमार था, उदायन। दोनों परस्पर मित्र थे, सहचर थे। एक-दूसरे के स्नेही साथी थे। बृहस्पति दत्त राजभवन में भी जाता था।

उदायन राजा के पद्मावती रानी थी। वह सुन्दरी और रूपवती थी। एक बार उदायन ने बृहस्पति को अपनी रानी के

## १७० : पीयूष घट

साथ अपकर्म करते देखा, और क्रुद्ध होकर कठोर दण्ड का आदेश दिया ।

गणधर गौतम ने बृहस्पति के कण्ठ दृश्य को देखकर भगवान् से पूछा । भगवान् ने बृहस्पति के पूर्व भव का और उत्तर भवों का वर्णन किया—

“अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करके वह अपनी साधना से संयम का पालन करके सिद्ध होगा ।”

पर नारी में आसक्त मनुष्य के जीवन की क्या दशा होती है ? यह यहाँ भली-भाँति देखा जा सकता है ।

—विपाक श्रु० १, अ० ५/●

## नन्दी वर्धन

दण्ड-बल से मानव के मन का सुधार नहीं होता। शिक्षा से ही मनुष्य की मनोवृत्ति को मोड़ दिया जा सकता है। जीवन का सुधार भय से नहीं, प्रेम और सद्भाव से किया जाना चाहिए।

सिंहपुर नगर में राजा सिंहरथ का राज्य था। दुर्योधन वहाँ का नगर रक्षक था। क्रूर, कठोर और कटु स्वभाव का था। थोड़े से भी अपराध पर कठोर दण्ड देने वाला था। तांबा, शीशा लेता और तेल गरम करके तथा अश्व, वृषभ और महिष का मूत्र एकत्रित करके वह अपराधी के देह पर डालता था। गरम तेल के कड़ाह में जीवित मनुष्य को डालकर वह तमाशा देखा करता था। जीवन किसी का शाश्वत नहीं होता। वह नगर रक्षक दुर्योधन पाप का अपार भार लेकर मरा और वहाँ से छट्ठी नरक में नारक बना।

वहाँ से निकल कर मथुरा नगरी के राजा श्रीदास की रानी बन्धुश्री की कूख से जन्मा। राजकुमार का नाम नन्दी वर्धन रखा गया। बचपन सुख से बीता। युवराज बनने पर राजा बनने की तीव्र लालसा जाग उठी। भोग-विलास की आग कभी शान्त नहीं होती।

नन्दी वर्धन ने चित्र नापित से मिलकर अपने पिता श्रीदास को मारने का षड्यन्त्र रचा, परन्तु उसमें सफलता नहीं मिली।

१७२ : पीयूष घट

जीवन की ममता भी कभी मनुष्य को गलत रास्ते पर जाने से रोक लेती है। चित्र राजभय से काँप गया। सारी बात राजा से कह दी।

श्री दास ने नन्दी वर्धन को तप्त लोह सिंहासन पर बँठाकर, उबलता शीशा और ताँबा उसके सिर पर डालकर उसका अभिषेक किया। राज्य लोभ ने पिता और पुत्र के जीवन में कितना भयंकर उलट-फेर कर दिया।

गणधर गौतम ने नन्दी वर्धन के जीवन के सम्बन्ध में पूछा और भगवान् ने पूर्व तथा उत्तर भवों का वर्णन करके कहा—

“अनन्त संसार के परिभ्रमण के बाद वह महाविदेह से सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।”

—विपाक श्रु० १, अ० ६/●

## उम्बर दत्त

धर्म का मूल विवेक है। बिना विवेक के धर्म स्थिर नहीं होता। क्या करना, क्या नहीं करना? क्या देना, क्या नहीं देना? क्या खाना, क्या नहीं खाना? यह सब विवेक से जानना चाहिए।

पाटल खण्ड नगर में सिद्धार्थ राजा था। उसी नगर में सागर दत्त एक सार्थवाह राजा था। उसकी पत्नी गंगादत्ता और पुत्र उम्बर दत्त था।

भगवान् महावीर पाटल खण्ड नगर के बाहर विराजित थे। गणधर गौतम गोचरी लेकर लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने देखा—

एक भिखारी है, जिसके अंग-अंग से कोढ़ फूट रहा है। रक्त और पीप बह रहा है। मानव की होन दशा पर गौतम को गहरी चिन्ता होने लगी। प्रभु से जाकर पूछा—“भंते ! यह कौन है, और क्यों ऐसा हो गया है ?” भगवान् ने शान्त स्वर में कहा—

“विजयपुर नगर में कनकरथ राजा था। धन्वन्तरि वहाँ एक वैद्य था। वह रोगियों की चिकित्सा किया करता था। पथ्य के लिए वह रोगी को कच्छप, मुर्गा, खरगोश, हिरन, कबूतर, तीतर

१७४ : पीयूष घट

और मोर आदि का मांस खाने की प्रेरणा करता था। इस पापमय उपदेश के कारण वह मरकर नरक गया वहाँ से वह उम्बर दत्त के रूप में आया है। वह सार्थवह सागर दत्त की पत्नी गंगादत्ता का पुत्र है।

यह अपने पाप-कर्म का दारुण फल भोग रहा है। अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहेगा। अन्त में महाविदेह से सिद्ध होगा।”

रोगी की सेवा करना पाप नहीं है। वह तो धर्म है। परन्तु सेवा में जिस विवेक की जरूरत होनी चाहिए, वह धन्वन्तरि में नहीं थी। हिंसा का उपदेश दिया, उसी का यह फल था।

—विपाक श्र० १; अ० ७/●

## सौर्य दत्त

अपनी आवश्यकता की पूर्ति करना मनुष्य का कर्तव्य है। परन्तु दूसरों के विनाश पर अपना विकास करना—महापाप है, जिसका दारुण फल आज नहीं तो कल मिलेगा ही।

सोरीपुर नगर में सौर्यदत्त राजा था। नगर के बाहर ईशान कोण में मच्छीमारों का एक मोहल्ला था। समुद्रदत्त एक मच्छीमार रहता था। उसकी पत्नी का नाम समुद्रदत्ता और पुत्र का सौर्यदत्त था।

भगवान् महावीर नगर के बाहर बाग में विराजित थे। इन्द्रभूति गौतम भिक्षा लेकर प्रभु की सेवा में लौट रहे थे। उन्होंने मार्ग में एक करुण दृश्य देखा—

एक मनुष्य था। शरीर उसका सूखा जा रहा था। चलते-फिरते और उठते-बैठते हड्डी कड़-कड़ करती थी। गले में मच्छी का काँटा फँसा हुआ था। अत्यन्त वेदना थी। “भंते, यह ऐसा क्यों ?” भगवान् ने कहा—

“नन्दीपुर नगर में मित्र राजा था उसके सिरिय रसोइया था। वह अत्यन्त क्रूर और निर्दय था। पशु और पक्षियों का मांस स्वयं भी खाता था, और दूसरों को भी खिलाया करता



१७६ : पीयूष घट

था । वहाँ से आयु पूरी करके नरक में गया । वहाँ से फिर यह यहाँ पर समुद्रदत्ता का पुत्र बना है । वर्तमान भव में भी मांस खाता रहा । मच्छी का काँटा गले में फँस जाने के कारण उसकी यह कर्ण दशा बन गई है । अनन्त संसार का परिभ्रमण करने के बाद यह महाविदेह से सिद्ध होगा ।”

भोजन मनुष्य जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है । परन्तु वह मांस के सर्वथा परित्याग से भी पूरी की जा सकती है । मांस भोजन का दारुण फल यहाँ पर बताया गया है ।

—विपाक श्रु० १, अ० ८/●

## देवदत्ता

नारी का हृदय कोमल भी है, और कठोर भी। वह अपने सुख-विलास में किसी को बाधक नहीं होने देना चाहती। अपने स्वार्थ के लिए नारी भयंकर से भयंकर पाप कर सकती है। सद्भावना जागने पर वह बड़े से बड़ा त्याग भी कर सकती है। नारी अमृत भी है, और विष भी।

रोहीड़ नगर में वैश्रमणदत्त राजा राज्य करता था। श्रीदेवी रानी थी। और पुष्प नन्दी राजकुमार था। इसी नगर में दत्त नाम वाला एक गाथापति भी था। उसकी पत्नी का नाम था कृष्णश्री। देवदत्ता उसके एक पुत्री थी। वह सुन्दरी और रूपवती थी। धन का मद, और रूप का मद मनुष्य को पागल बना डालता है।

नगर के बाहर बाग में भगवान् महावीर विराजित थे। इन्द्रभूति गौतम भिक्षा लेकर लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक अत्यन्त दयनीय दृश्य देखा—

“राजपुरुषों से धिरी हुई एक नारी थी। बन्धनों से बँधी हुई थी। उसके कान, नाक और स्तन कटे हुए थे। रुधिर बह रहा था गौतम ने पूछा—“भंते, यह क्या बान है ?” भगवान् ने कहा—

“यह नारी, देवदत्ता है। राजकुमार पुष्प नन्दी की रानी है। अपने पूर्व के भव में यह सुप्रतिष्ठ नगर के राजा महासेन का

## १७८ : पीयूष घट

पुत्र सिंहसेन था। अपनी श्यामा रानी को प्रसन्न रखने के लिए इसने अपनी दूसरी रानियों को जलाकर मार डाला था। इस भयंकर पाप के कारण सिंहसेन नरक में गया। वहाँ से अब यह देवदत्त बना है। यहाँ आकर भी उसकी भोग-लालसा शान्त नहीं हुई। पुष्प नन्दी की माता श्री देवी को अपने भोग में बाधक समझकर इसने उसे कुमृत्यु से मार डाला। पता लगने पर पुष्प नन्दी ने देवदत्ता को यह कठोरतम दण्ड दिया है।”

“अनन्त संसार के बाद यह महाविदेह से सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगी।”

विपाक श्र० १; अ० ६/●

## अंजू कुमारी

भोग और रोग का साथ है। जहाँ भोग है, वहाँ रोग अवश्य रहता है। भोग प्रारम्भ में मधुर लगता है, परन्तु अन्त में उसका फल कटु होता है।

वर्धमानपुर नगर में विजय मित्र राजा था। इसी नगर में धनदेव एक सार्थवाह रहता था। उसकी पत्नी प्रियंगु और पुत्री अंजू कुमारी थी। अंजू कुमारी रूप, यौवन और लावण्य से सम्पन्न थी।

भगवान् महावीर नगर के बाहर बाग में ठहरे थे। गणधर गौतम गोचरी लेकर आ रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक कर्ण दृश्य को देखा—

एक नारी थी। उसके शरीर में रक्त और मांस अत्यन्त अल्प था। अस्थि-पंजर मात्र थी सभी लोग उसे वृणा भरी दृष्टि से देख रहे थे। गौतम ने पूछा—“भंते, यह ऐसा क्यों हुआ ?” भगवान् ने धीरे स्वर में कहा—

“इन्द्रपुर एक नगर था। इन्द्रदत्त राजा था। पृथ्वीश्री वहाँ एक बेश्या थी। उसने अपने रूप और सौन्दर्य की आग में नगर के अनेक तरुणों को दग्ध कर दिया था। अपने इस पाप के कारण वह मरकर नरक में गई। वहाँ अपने पाप का फल भोग कर वह प्रियंगु की पुत्री अंजू कुमारी बनी। विजय मित्र राजा उसके रूप

१८० : पीयूष घट

और यौवन पर मुग्ध हो गया। उसे अपनी रानी बना लिया। कालान्तर में अंजू कुमारी अत्यन्त रुग्ण हो गई। चिकित्सा कराने पर भी स्वस्थ नहीं हो सकी भोग का अतिरेक जीवन का अन्त कर देता है। जिस नारी को तुमने देखा है, वही अंजू कुमारी है।”

“अनन्त संसार का परिभ्रमण करके अन्त में महाविदेह में सिद्ध होगी।”

“भोग में रोग का भय है, रूप में जरा सा भय है, धन में चोरी का भय है। सर्वत्र भय ही भय है। अभय तो मात्र एक वैराग्य में ही है। संयम में किसी प्रकार का भय नहीं रहता।”

विपाक श्रु० १, अ० १०/●

## आलोचक

एक बार ब्रह्मा अपार जल राशि के मध्य कमलासन पर बैठे थे। शून्य में बैठे-बैठे उन्हें अपना एकत्व अखरने लगा। सोचने लगे—“संसार की रचना करूँ, तो कैसा रहे? संसार एक ऐसा संसार, जिसमें कीड़ी से कुंजर तक के पशु हों, मच्छर से गरुड़ तक के पक्षी हों, वानर से नर तक के मनुष्य हों, और ..... ! और क्या हो? सुख-समृद्धि से पूर्ण स्वर्ग तथा क्लेश-सन्ताप से पूर्ण नरक ! जिससे कि स्वर्ग के लोभ से और नरक के भय से मेरी प्रजा पाप न कर सके।”

“मैं संसार-रचना का प्रयत्न कर रहा हूँ? पर, मेरी कृति अच्छी है, अथवा बुरी, इसकी परीक्षा कौन करेगा? उसके गुण दोषों की मीमांसा कौन करेगा?” यह प्रश्न ब्रह्मा से संसार रचना से पूर्व ही समाधान माँगता था।

ब्रह्मा ने बहुत-कुछ सोच-विचार कर, निर्णय किया—“सर्व प्रथम एक टीकाकार अथवा आलोचक रचूँ, जो मेरी कृतियों में गुण दोषों की मीमांसा कर उन्हें उपयोगी सिद्ध कर सके। अन्यथा मेरी सृष्टि-कृति सुन्दर न बन सकेगी।”

ब्रह्मा ने एक समर्थ टीकाकार की रचना कर उससे कहा—“देखो, जो कुछ भी मैं रचूँ, उसकी जाँच-पड़ताल तुम करते रहना, मेरी कृतियों के गुण-दोषों की सूचना मुझे देते रहना।

## १८२ : पीयूष घट

पर इस बात का ध्यान रखना, कि तुम्हारी दृष्टि केवल दोष-दर्शन में ही स्थिर न हो जाए। टीकाकार अथवा आलोचक का कर्तव्य तो यह है कि वह प्रामाणिकता के साथ जहाँ दोषों को देखता है, वहाँ वस्तु के गुणों का प्रकाशन भी करता है। तभी किसी कृति की उपयोगिता या अनुपयोगिता सिद्ध हो सकती है। एक पक्षपातिनी दृष्टि वस्तु के स्वरूप को नहीं समझ सकती।”

ब्रह्मा ने संसार-रचना का कार्य प्रारम्भ कर दिया। कार्य इतनी तेजी से चला कि टीकाकार को अवकाश ही न मिलता। जब तक वह एक वस्तु का परीक्षण कर पाता, पचासों दूसरी कृतियाँ उसके सम्मुख उपस्थित हो जातीं। वह तंग आ गया। पर, इन्कार भी कैसे करे? अपनी नाक का सवाल आगे खड़ा था। अन्त में टीकाकार ने अपनी द्वेष-बुद्धि का सहारा लेकर आलोचना के तीखे तीर छोड़ना प्रारम्भ किए, ताकि ब्रह्मा अपनी रचना बन्द कर दे।

“ब्रह्मा जरा विराम करो ! तुम्हारी कृतियों में उत्तरोत्तर दोष बढ़ते जा रहे हैं ! यह मुझसे सहन न हो सकेगा। तुम्हारी यह कीड़ी ! इतनी हल्की-फुल्की है, कि मेरी फूँक से ही गज भर दूर जाकर पड़ती है ! तुम्हारा यह कुँजर ! इतना भारी-भरकम है कि इसके मरने पर इसे श्मशान-भूमि तक ले जाने की ताकत किसी में नहीं। तुम्हारा यह उष्ट्र ! इसकी ग्रीवा इतनी लम्बी और इसका शरीर इतना ऊँचा है, कि यह तुम्हारी सृष्टि के सारे हरे-भरे वृक्षों को खाकर समाप्त कर देगा। तुम्हारा यह वानर ! इतना चंचल और इतना शैतान है, कि मत्त रावण की लंका में आग लगा कर उसे भस्म कर देगा। कलियुग में जब इसे वनों में फल-फूल न मिलेंगे, तब किसान की खेती को हानि पहुँचाएगा। तुम्हारा यह मानव ! इसकी छाती में एक खिड़की आवश्यक था,

जिससे इसके मानस में रचे जाने वाले कुचक्रों का भण्डाफोड़ हो जाता ।”

ब्रह्मा अपनी इस मानव-रूप सर्वश्रेष्ठ कृति की दुरालोचना से तिलमिला उठे । उन्होंने आवेश को रोक विवेक-पूर्ण स्वर में कहा—“मैंने तुझे ही पहले रचा, यही मेरी एक भूल है । प्रतीत होता है कि तेरो बुद्धि द्रोपगुण हो गई है । तभी तो तुझे मेरी कृतियों में दोष ही दोष नजर आते हैं ।” ब्रह्मा के मुख से सहज ही निकल पड़ा—

“विद्वांसो यदि मम दोषमुद्गिरेयुः यद्वा ते गुण-गणमेव कीर्तयेयुः ।  
तत् तुल्यं बत मनुते मनो मदीयम्, तत् कष्टं पुनरेव माह मन्दः ॥”

“कला का पारखी विद्वान् यदि मेरी कृतियों में दोष ही दोष अथवा गुण ही गुण देखे, तो मेरा मन सन्तोष पा सकता है । पर एक मूर्ख यदि मेरे दोष को भी गुण कहता है, तो वह मुझे अखरता है—बुरा लगता है ।”

—लोक-कथा के आधार पर



## बुद्धिर्यस्य बलं तस्य

मालव देश को राजधानी उज्जयिनी नगरी में राजा चण्ड-प्रद्योत राज्य करता था। वह उद्धत, क्रूर, अहंकारी और बलवान् था। पर-पीड़न में ही उसकी शक्ति का उपयोग होता था।

एक बार श्रेणिक राजा के पास अपना दूत भेजकर उसने कहलाया—

“सिञ्चानक गन्धहस्ती, वंकचूड़हार, अभयकुमार और चेलमना रानी मुझे दे दो। नहीं, तो युद्ध के लिए तैयार रहो।”

अभयकुमार ने दूत से कहा—अपने राजा से जाकर यह कहना—

“अग्निरथ, अनिलगिरि हाथी, वज्रजंघ दूत और शिवा देवो यहाँ भेज दो। यदि अपनी कुशलता आप को प्रिय हो, तो।”

राजा चण्डप्रद्योत क्रुद्ध होकर अपनी विशाल सेना लेकर राजगृह पर चढ़ आया। परन्तु अभय ने भेदनीति के प्रयोग से चण्डप्रद्योत को भगा दिया।

रहस्य खुलने पर चण्डप्रद्योत को अभय पर बड़ा क्रोध आया उसने एक वेश्या को श्राविका बनाकर धोखे से अभय को अपने यहाँ पकड़ लाने में सफलता प्राप्त की।

परन्तु अभय बड़ा बुद्धिमान था। जिसके पास बुद्धि है, वही बलवान है। जिसके पास बुद्धि नहीं, वह निर्बल है। अभय को अपनी बुद्धि पर विश्वास था।

अभय ने चण्डप्रद्योत की समान आकृति और आवाज वाला व्यक्ति ढूँढ लिया था। रथ में बैठकर वह आदमी और अभय बाजार में से निकलते, अभय उसके जूते मारता, वह चिल्लाता, लोग छुड़ाने को आते, तो दोनों हँस पड़ते। लोग इसे आए दिन की मजाक समझते।

एक रोज अभय ने वास्तव में चण्डप्रद्योत को अपने आदमियों से पकड़वा कर, रथ में डालकर जूते मारता हुआ, उज्जयिनी के बाजार से होकर राजगृह ले आया। वहाँ श्रेणिक से क्षमा माँगने पर उसे छोड़ दिया गया। चण्डप्रद्योत ने फिर कभी अभय को नहीं छेड़ा। ●

## बकरे का सुख

जो मनुष्य खा-पीकर मस्त बना रहता है, धर्म साधना नहीं करता, उसकी क्या स्थिति होती है? इसको उत्तराध्ययन सूत्र के 7 वें अध्यायन में एक रूपक के द्वारा समझाया है—

किसी अनार्थ पुरुष के घर एक बकरा था, और गाय तथा बछड़ा भी था। वह गृह स्वामी बकरे को दो बार स्नान कराता, उसके शरीर पर रंग-बिरंगे बेलबूटे करता। अच्छा पौष्टिक भोजन देता। कपड़े ओढ़ाता। खूब लाड़-प्यार करता। उसकी हर तरह से सेवा करता।

बकरे का यह सुख-वैभव देखकर पास ही बँधे बछड़े ने गाय से कहा :—

माँ, यह क्या बात है? यह बकरा इस पुरुष को कुछ भी नहीं देता, फिर भी उसकी इतनी सेवा? और तू दूध देती है, फिर सूखा घास मिलता है। इस भेदभाव का कारण क्या है? गाय ने बछड़े को धीरे से समझाते हुए कहा:—बेटा, तरमाल से से यह सूखा घास अच्छा। उसका रहस्य कभी अवसर पर बताऊँगी।

एक बार उस पुरुष के घर पर उसका कोई प्रिय अतिथि आया। पुरुष ने अपने हाथ में पैनी छुरी लेकर बकरे को काट

डाला । अतिथि को सेवा के लिए ही तो उसे पाला-पोषा गया था ।

यह क्रूर कर्म देखकर बछड़ा भी भयभीत हो गया कि कहीं मेरी भी यही दशा न हो जाए ।—परन्तु गाय ने कहा—घबरा मत; हमें कोई कांटने वाला नहीं है । क्योंकि हम सूखा घास खाकर दूध देते हैं । भय तो उन्हें है—जो खूब खा पीकर भी कुछ देने नहीं हैं । “जो खाएगा गटका, वही सहेगा झटका ।” बकरे की नेत्रा का फल उसे मिल रहा है ।

गुरु गाय के समान है, शिष्य बछड़े के समान । पाप श्रमण बकरे के समान है । काल अतिथि के तुल्य है ।

उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ७, नि० गा० २४७

## जीवन जीने की कला

शक्ति से जो कार्य नहीं होता, वही कार्य बुद्धि से सुगमता के साथ हो जाता है। शक्ति से बुद्धि अधिक महत्वपूर्ण है।

किसी वन में एक मृत गज पड़ा था। घमता-घमता एक सियार उधर आ निकला। मन में सोचा, 'यह मेरे लिए यथेष्ट भोजन है, बहुत दिनों तक काम चलेगा।' वह इस प्रकार सोच ही रहा था, कि एक सिंह भी वहाँ आ पहुँचा। सियार बड़ा दुर्त होता है।

सिंह ने पूछा, 'तू यहाँ क्यों बैठा है?' 'मामाजी, मैं आपको भोजन के लिये निमन्त्रण देता हूँ' सियार ने सिंह से कहा। सिंह ने पूछा, 'यह किसका शिकार है?' सियार ने चालाकी से कहा, 'व्याघ्र का है।' यह सुनकर सिंह वहाँ से चल पड़ा। क्योंकि सिंह अपने पुरुषार्थ का ही खाता है, किसी दूसरे के श्रम का नहीं।

कुछ समय बाद वहाँ व्याघ्र आ गया। उसने भी पूछा— 'यह किसका शिकार है।' सियार ने होशियारी से काम लिया। बोला—सिंहका है। यह सुनकर व्याघ्र वहाँ से भाग खड़ा हुआ। अभी विघ्न परम्परा निःशेष नहीं हुई थी। थोड़ी देर बाद ही वहाँ एक काक आ गया था।

सियार ने सोचा—यदि इसे कुछ नहीं दूंगा, तो यह काँव-काँव करके अन्य बहुत कागों को यहाँ एकत्रित कर लेगा। और फिर काकरव से यहाँ अन्य बहुत से विघ्नकर जीव एकत्रित हो

जायेंगे। इसे थोड़ा देना ही अच्छा है। मुसीबतों से बचाव हो जायगा। उसने एक टुकड़ा उसे फेंक दिया।

इतने में ही वहाँ एक दूसरा सियार आ टपका। पहले सियार ने उस पर प्रहार करके उसे भगा दिया। और सम्पूर्ण मृत गज पर आधिपत्य जमा लिया।

यह तो एक रूपक हैं समाज में सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। उत्तम, मध्यम, अधम और सदृश। उत्तम को विनय से, मध्यम को भेंट से, अधम को थोड़ा देकर और सदृश को बल से अपने वश में करके की कला सीखे विना जीवन सुखी और समृद्ध नहीं बन सकता। यह एक नीति का सिद्धान्त है—

‘उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत्। नीचमल्पप्रदानेन, सदृशं च पराक्रमैः ॥’

## साहसे लक्ष्मीर्वसति

भूमि को वसुन्धरा कहा जाता है। कदम-कदम पर इस में सम्पदा भरी पड़ी है। परन्तु भाग्यवान को ही वह प्राप्त होती है, पुण्यहीन को नहीं। धन प्राप्ति की अपेक्षा धन संरक्षण में अधिक क्लेश रहता है।

इधर-उधर घूमता एक दीन-दरिद्र कणिक रत्नद्वीप जा पहुँचा। वहीं उसने प्रचुर मात्रा में सुन्दर और बहुमूल्य रत्नों को देखा, वह अपने भाग्य पर चकित था। उसने रत्नों को तो एकत्रित कर लिया, परन्तु घर ले जाने की समस्या उसके सन्मुख थी। क्योंकि मार्ग लम्बा, विकट और चोरों के उपद्रव से युक्त था।

मनुष्य का सबसे बड़ा साथी है उसकी बुद्धि, जो विपत्ति में उसका साथ ही नहीं देती, बल्कि उसे सही रास्ता भी बता देती है। वणिक ने रत्नों को छुपाकर रख दिया और अपनी झोली में पत्थर भरकर चोरों के सामने से निकलता। चोरों ने उसे दो-चार बार टोका भी, रोका भी, उसकी झोली में पत्थर देखकर उसे छोड़ दिया। बाद में उन्होंने उसे टोकना रोकना छोड़ दिया।

वणिक चतुर था। अवसर पाकर वह रत्नों को निकाल ले गया। परन्तु अभी संकटों सा अन्त नहीं था। एक विकट वन में

से जब वह गुजर रहा था, तो तीव्र प्यास से उसके प्राण संकट में फँस गए। इधर-उधर देखा, पर वहाँ जल कहाँ? अत्यन्त प्रयत्न करने पर उसे एक तलैया मिली। उसका जल सड़ गया था, उसमें अनेक मृत हरिणों के कलेवर पड़े होने के कारण उसका जल अपेय बन चुका था। परन्तु तीव्र तृष्णा जल चाहती है, स्वच्छता और अस्वच्छता नहीं। वणिक ने उसी जल को पीकर अपने ब्रह्मते हुए प्राणदीप को बचा लिया।

उसी विपुल रत्न राशि को देखकर वह अपने घर पहुँच गया उसकी दीनता और दरिद्रता सुख और समृद्धि में परिणत हो गई।

यह विश्व विकट वन है। आत्म-साधक वणिक है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य आदि सद्गुण रत्न राशि है। विषय-वषाय चोर है। जो साधक कष्ट सहन करके भी इसे पार कर लेता है, वह सदा सुखी है।

—विजयमुनि, साहित्यरत्न





